आद्य शंकराचार्य

विरचित

साधना पंचकम्

व्याख्याकार

स्वामिनी अमितानन्द सरस्वती

वेदान्त मिशन प्रकाशन

www.vmission.org.in

साधना पंचकम्

विषय सूचि

संख्या	सूत्र	पृष्ठ संख्या
	ग्रंथ परिचय	३-५
०१	वेदो नित्यमधीयताम्	६-९
०२	तदुदितं कर्मस्वनुष्ठीयताम्	१०-१३
०३	तेनेशस्य विधीयतामपचितिः	१४-१६
०४	काम्ये मतिस्त्यज्यताम्	१७-१९
०५	पापौघः परिधूयताम्	२०-२२
०६	भवसुखे दोषोऽनुसन्धीयताम्	२३-२५
०७	आत्मेच्छा व्यवसीयताम्	२६-२८
०८	निजगृहात्तूर्णं विनिर्गम्यताम्	२९-३१
०९	संगः सत्सु विधीयताम्	३२-३४
१०	भगवतो भक्तिर्दृढाधीयतां	३५-३७
११	शान्त्यादिः परिचीयतां	३८-४७
१२	दृढतरं कर्माशु सन्त्यज्यताम्	४८-५०
१३	सद्विद्वानुपसर्प्यताम्	५१-५३
१४	प्रतिदिनं तत्पादुका सेव्यताम्	५४-५६
१५	ब्रह्मैकाक्षरमर्थ्यताम्	५७-५९
१६	श्रुतिशिरो वाक्यं समाकर्ण्यताम्	६०-६२
१७	वाक्यार्थश्च विचार्यतां	६३-६५
१८	श्रुतिशिरःपक्षः समाश्रीयतां	६६-६८

१९	दुस्तर्कात्सुविरम्यताम्	६९-७२
२०	श्रुतिमतः तर्कोऽनुसन्धीयताम्	७३-७४
२१	ब्रह्मैवास्मि विभाव्यताम्	७५-७७
२२	अहरहः गर्वः परित्यज्यताम्	७८-८०
२३	देहेऽहंमतिरुज्झ्यताम्	८१-८३
२४	बुधजनैः वादः परित्यज्यताम्	८४-८५
२५	क्षुद्व्याधिश्च चिकित्स्यताम्	८६-८७
२६	प्रतिदिनं भिक्षौषधं भुज्यताम्	८८-९०
२७	स्वाद्वन्नं न तु याच्यताम्	९१-९२
२८	विधिवशात्प्राप्तेन संतुष्यताम्	९३-९५
२९	शीतोष्णादि विषह्यताम्	९६-९८
३०	न तु वृथा वाक्यं समुच्चार्यताम्	९९-१०१
३१	औदासीन्यमभीप्स्यताम्	१०२-१०४
३२	जनकृपा नैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम्	१०५-१०७
३३	एकान्ते सुखमास्यताम्	१०८-११०
३४	परतरे चेतः समाधीयताम्	१११-११३
३५	पूर्णात्मा सुसमीक्ष्यताम्	११४-११६
३६	जगदिदं तद्बाधितं दृश्यताम्	११७-११९
३७	प्राक्कर्म प्रविलाप्यताम्	१२०-१२२
३८	चितिबलान्नाप्युत्तरैः श्लिष्यताम्	१२३-१२५
३९	प्रारब्धं त्विह भुज्यताम्	१२६-१२८
४०	अथ परब्रह्मात्मना स्थीयताम्	१२९-१३१

साधना पंचकम् - परिचय

'साधना पंचकम्' भगवान आदि शंकराचार्यजी द्वारा रचित पांच श्लोकों की एक अल्प रचना है। ऐसा कहा जाता है कि जब आचार्य इस लोक से प्रयाण कर रहे थे, तब उन्होंने अपने शिष्यों को यह ही अन्तिम उपदेश दिया था। जिसमें अध्यात्म लक्ष्य की अथ से इति तक की यात्रा प्रतिपादित है।

यह ग्रन्थ 'सोपान पंचकम्' के नाम से भी जाना जाता है। ग्रन्थ के नाम से उसका विषय भी द्योतित होता है। जीवन का परं लक्ष्य अपनी ब्रह्मस्वरूपता का साक्षात्कार करके उसमें जगना है, इसे ही मोक्ष कहा गया है। एक साधारण मनुष्य जो आज अपने आपको कर्ता-भोक्ता जीव समझ रहा है, वह इस यात्रा का श्रीगणेश करते हुए कैसे उस लक्ष्य की सिद्धि कर सकता है, यह इस ग्रन्थ में बताया गया है। इस यात्रा को चालीस सोपान रूप बताया है। यदि कोई मुमुक्षु एक साधन का अच्छी तरह से निष्ठापूर्वक आश्रय लेता है तो वह अन्य सोपान में पर्यवसित होता है।

किसी भी यात्रा का आरम्भ सदैव हम जहां खड़े हैं,

वहीं से किया जाता है। आज हम कर्म के क्षेत्र में हैं, तथा अपने आपको कर्ता-भोक्ता जीव समझ रहे हैं। जगत् के, स्वयं के तथा ईश्वर के सम्बन्ध में तथा कर्म के बारे में ऐसे अनेकों प्रकार के मोह विद्यमान हैं। इन सब के ज्ञान हेतु प्रमाण वेदशास्त्रों को ही माना गया है। इन शास्त्रों के अध्ययन से ही यात्रा का श्रीगणेश किया जाता है। उसके माध्यम से विधि-निषेधात्क ज्ञान होता है, साथ ही शरीर से भिन्न किसी जीव के अस्तित्व का ज्ञान, उसका ईश्वर के साथ सम्बन्ध का स्वरूप तथा जीवन के महान लक्ष्य के बारे में समझ प्राप्त होती है। इन सब के बारे में समझ प्राप्त करने के उपरान्त कर्ता को सात्विक बनाने की दिशा में यात्रा आरम्भ होती है।

ऐसा सात्विक कर्ता वैराग्य से युक्त होकर महान लक्ष्य की सिद्धि के लिए निवृत्ति मार्ग का आश्रय लेता है। जहां अपने मन को ब्रह्मज्ञान रूपी महान लक्ष्य के लिए पात्र बनाते हुए किसी गुरु के श्रीचरणों में बैठकर ज्ञान प्राप्त करता है। इस ज्ञान को आत्मसात् करने के लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूपी साधन का आश्रय लिया जाता है। ब्रह्म को अपनी आत्मा की तरह जानकर उसी में रमना यह समस्त साधना का पर्यवसान है। इस महान लक्ष्य की सिद्धि हेतु इन समस्त विविध

साधनों को यहां चालीस सोपानों में आचार्यश्री ने सूत्र रूप से बताया है। यह अत्यन्त लघु किन्तु जीव से ब्रह्म तक की यात्रा को अत्यन्त सुन्दर और सटीक रूप से प्रतिपादन करता है।

सूत्र : १

।। वेदो नित्यमधीयताम् ।।

वेदों का नित्य अध्ययन करें।

साधना पंचकम् ग्रंथ में आचार्यश्री जीवन के महान लक्ष्य स्वस्वरूप में अवस्थान रूप ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए विविध सोपान बता रहे हैं। लक्ष्य की सिद्धि के लिए अन्त:करण सात्विक होना परं आवश्यक है। अन्त:करण को सर्व प्रथम सात्विक बनाने के उपरान्त ही ज्ञान की प्राप्ति सम्भव होती है। इसके लिए सर्व प्रथम सोपान वेदों के अध्ययन रूप है। नित्य अध्ययन से अभिप्राय जीवन में उसे नियम की तरह ग्रहण किया जाना चाहिए। हम चाहें उसका अर्थ जान रहे हों वा न जान रहे हों। किसी भी ग्रंथ का अर्थ के साथ पाठ करें या बगैर समझे? वैसे अर्थ जान कर पाठ करने का विशेष प्रभाव होता है, किन्तु बिना अर्थ जाने पढ़ने का भी प्रभाव होता है। यह हमारे जीवन में नियम के लिए निमित्त बनता है। नियम पालन के लिए मन में तमोगुण और रजोगुण व्यवधानरूप बनते हैं। किसी भी प्रकार का नियम तमोगुण को शिथिल करने का कारण बनता है। उसका मूल्य स्थापित होता है। कई बार हम जानते

हैं कि यह करने योग्य है, फिर भी नहीं कर पाते हैं - यह प्रमाद ही तमोगुणका लक्षण है। उन कर्तव्य विशेष के प्रति भावना के अभाव के साथ साथ प्रेरणा का भी अभाव दिखता है। जब रजोगुण होता है तो उसके कारण मन में स्वार्थवृत्ति की प्रधानता होती है, भोक्तृत्व की तीव्रता होती है। इस वजह से कर्मफल पर आश्रित होकर कुछ न कुछ अन्य चीजों मे उलझे रहते हैं। यदि कोई भी नियम लिया तो ऐसे स्वभाव से निपटना पड़ता है। इसके माध्यम से रजोगुण वश में आता है। यदि संकल्प दृढ़ करते हैं तो वह कार्य करना ही पडेगा। इस प्रकार रजोगुण और तमोगुण को गौण बनाने की आदत डाली जाती है।

नियम उतना ही लेना चाहिए जितना कि हम निभा सकें। थोड़े से नियम का भी बहुत बडा प्रभाव होता है, एवं नियम पालन से रजोगुण और तमोगुण को निवृत्त किया जा सकता है। जब हम किसी नियम को अच्छी तरह से पालन करने लगते है, तो वह आत्मविश्वास की वृद्धि हेतु निमित्त बनता है, किसी संकल्प को दृढ़ करके उसे क्रियान्वित करने हेतु बल देता है। एक संकल्प लेकर उसमें दृढ रहें यह प्रथम सोपान है।

यहां आचार्य वेदों के नित्य अध्ययन का विधान करते हैं। वेद अर्थात् वह शास्त्र जो इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति के लिए अलौकिक उपाय का ज्ञान कराता है। इष्ट-प्राप्ति के अन्तर्गत अपने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चार पुरुषार्थ हैं। वेद अपौरुषेय ग्रन्थ हैं, अर्थात् किसी मनुष्य के द्वारा रचित ग्रंथ नहीं हैं। सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर के निःश्वास रूप से यह प्रगट हुआ ज्ञान है। किन्तु उन मंत्रों को ग्रहण करने की शक्ति साधारण मनुष्य में नहीं है, ऋषिगण जिन्होंने विशेष तपस्या के आश्रय से अपने अहं को विसर्जित करके परमात्मा के साथ अनन्यता स्थापित करी, उनके द्वारा यह मंत्र ग्रहण हुए। यह किसी मनुष्य की कृति नहीं होने की वजह से समस्त प्रकार के दोषों से रहित हैं। तथा अपौरुषेयत्वे सति वेदः प्रमाणम् अर्थात् अपौरुषेय विषय जो मनुष्य की बुद्धि से परे तथा अग्राह्य होता है, उसके लिए वेद ही एक मात्र प्रमाणग्रंथ है।

वेदों के अन्दर दो प्रकार के धर्म की चर्चा की गई १. प्रवृत्ति लक्षण धर्म २. निवृत्ति लक्षण धर्म। प्रवृत्ति अर्थात् कर्म। जिसमें समस्त विधि-निषेध का समावेश है तथा कर्म की एक विशेष कला बताई गई है जिसके माध्यम से मन सात्विकता से युक्त हो सके। सात्विक

मन ही कर्म से निवृत्त होकर सूक्ष्म आत्मविषयक वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होता है। इसे ही वेदों के कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड में प्रतिपादन किया गया है। कर्मकाण्ड धर्मपालन के साथ कर्म करने की कला सिखाता है तथा ज्ञानकाण्ड धम-अधर्म से परे ब्रह्मविषयक ज्ञान प्रदान करते है। इनके माध्यम से साध्य और साधन का विवेक प्राप्त होता है। आज के समय में वेदों का अध्ययन करना दुर्लभ है। अतः वेद के विषय धर्म -अधर्म विषयक ज्ञान तथा उससे परे लक्ष्य विषयक परिचय का ज्ञान जिसके भी माध्यम से हो सकें उसका नियम से अध्ययन करना चाहिए। जैसे रामायण, भागवतादि अनेंकों पुराण, तथा गीताशास्त्र के माध्यम से इन दोनों प्रवृत्ति धर्म और निवृत्ति धर्म का ज्ञान होता है, एवं शास्त्र के नित्य अध्ययन से कर्म विषयक ज्ञान होता है। उसके उपरान्त दूसरे सोपान पर आचार्य शास्त्रोक्त तरीके से कर्म के आचरण का विधान करते हैं। एक सोपान का अच्छी तरह से, सजगतापूर्वक आश्रय लेने पर वह सहज होने लगता है, तब दूसरे सोपान हेतु प्रेरणा जाग्रत होती है।

सूत्र : २

।। तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयताम्।।

वेदों में प्रतिपादित कर्म का अनुष्ठान करें।

वेदों को मोटे तौर से दो भाग में भाजित किया जा सकता है - १. कर्मकाण्ड और २ ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड में कर्म के बारे में उपदेश होता है कि कैसे और क्या कर्म करना चाहिए तथा ज्ञानकाण्ड में जीवन की सच्चाई के बारे में उपदेश दिया गया है। जीव की यात्रा कर्म से ही आरम्भ होती है। जीवन की सच्चाई को जानना चाहिए, उसके बारे में तीव्र इच्छा हो, तो भी वेदशास्त्र, गीता आदि हमें कर्म में प्रेरित करते हैं क्योंकि कर्म से मन सात्विक, विचारवान और निर्मल बनता है। अतः कर्म की वह कला को जानना चाहिए, जिससे मन निर्मल हो सके। साधारणतः जहां कर्म के क्षेत्र में प्रवेश करते है, तो चिन्ता आदि बढ़ने लगती है, विक्षेप होने लगता है। ऐसा लगता है कि कर्म ही दोषवान है, अतः कर्म से पलायन की भी प्रेरणा होने लगती है। किन्तु कर्म करना भी अनिवार्य है। गीता में भगवा बताते हैं कि 'शरीर शत्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।' कर्म के बगैर

जीवन ही सम्भव नहीं होता है। अतः वेद उस कला को बताते हैं उसे किस प्रकार से करना चाहिए तथा कौनसा करना चाहिए तथा कर्म के पीछे क्या दृष्टि होनी चाहिए। सदैव लक्ष्य को ध्यान में रखकर कर्म के महत्व को समझना चाहिए।

हम अपने आपको किसके लिए समर्पित करें और उसे किस भावना से करे। कब क्या करे - उसका निर्धारण होना चाहिए। उसे वर्णाश्रम धर्म की तरह बताया गया है। अपने जीवन की अवस्था तथा मन की अवस्था को ध्यान में रखकर आश्रम और वर्ण तथा उसके अनुरूप कर्म बताएं जाते हैं। गृहस्थ वह जो ज्ञान प्राप्त करके कर्म के क्षेत्र में उतरकर अपनी आवश्यता को समझता है। वानप्रस्थी वह जिसने पारिवारिक आदि जिम्मेदारी का निर्वाह अच्छी तरह किया है, अब अपने आपको उससे मुक्त करके मन को एकाग्र, सूक्ष्म बनाने के लिए परमात्मा के प्रति समर्पण हो। वह तपस्यामय जीवन जीते हुए सत्य को जानने के लिए अपने आपको समर्पित करता है। संन्यास कर्म के प्रति कर्तव्यता को त्यागते हुए सब से मुक्त होकर परमात्मा को जाने, एवं हर व्यक्ति की अवस्था के अनुसार कर्तव्य बताये गए हैं, तथा वर्ण के धर्म जिसमें मनुष्य को चार श्रेणी में

विभाजित किया गया है, यह एक सत्य है। जो शान्त विचारवान, ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रेरणा से युक्त होता है, जो भौतिक सुख को किनारे करके अपने आपको ज्ञान के लिए समर्पित करता है, वह ही ब्राह्मण है। जो रहस्य को समझने में व्यस्त, ज्ञान का पीपासु तो है, किन्तु वे ज्ञान की प्राप्ति के लिए समर्पित नहीं है, किन्तु अधर्म के लिए लडने वाले, सत्य व धर्म के लिए लडने वाले होते है। वे समाज में नेतृत्व से युक्त, उसमें उत्साह व प्रेरणा है। ऐसे नेतृत्व वृत्ति वाले क्षत्रिय कहलाते है। जो कर्म में उत्साही किन्तु धर्म व सब के हित के लिए नहीं, अपने व्यक्तिगत लाभ की प्रधानता की स्वाभाविक बुद्धि होती है, वे अच्छे व्यवसायी होते हैं, उसे वैश्य कहा जाता है। चौथे लोग जिसमें कोइ प्रेरणा नहीं, ज्ञान की पीपासा या धर्म के लिए मर मिटना आदि प्रेरणा नहीं। स्वतः प्रेरणा का अभाव होता है। उसमें तमोगुण प्रधान है, उसे मार्गदर्शन देना पड़ता है। उसे अच्छी सेवा में लगाया जा सकता है, उसे सुरक्षा चाहिए, उन तामस वृत्तिवाले को क्षूद्र कहा। वेद चारों वर्ण को परमात्मा के अंग की तरह बताते हैं। समाज के लिए चारों वर्ण आवश्यक है। एवं कर्तव्य के निर्णय में अवस्था तथा मन की स्थिति का ध्यान रखा गया। वर्ण मानसिक स्थिति के अनुरूप दिया जाता था। सब मनुष्य को चार

अवस्था और श्रेणी में विभाजित करके कर्तव्य दिये गये। अपने वर्णाश्रम के अलावा कुछ नित्य कर्म भी बताए गए। जो सबके लिए करणीय होते है। यह सब विस्तार कर्मकाण्ड में मिलता है। हम कर्म किस भावना युक्त हो कर करें, यह दिखाते है।

अपने वर्ण और आश्रम के अनुरूप अपने कर्तव्य कर्म का निर्धारण करके उसे बहुत अच्छी तरह करने का विधान यहां आचार्य श्री देते हैं। इसके अनुरूप कर्म करना - वह खुशी हो। उसे थोपा न जाए किन्तु उनके ही झुकाव को देखते हुए, उसके अनुसार किया जाए। मन की प्रेरणा के अनुरूप कर्म हो। कर्म ऐसा हो जिसकी स्वाभाविक प्रेरणा और रुचि हो, जिसके फल को गौण कर सके तथा जिसे वर्तमान में उपलब्ध हो कर तथा समग्रता से कर सके। यह आध्यात्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। उसमें अपनी पूरी उर्जा लगाएं। जो बताया उसका निश्चय हो। कर्म बहुत प्रेम से करना चाहिए। कर्म में प्रेम नहीं हो तो आन्तरिक विकास नहीं होता। अतः यहां कहा गया कि तदुदितं कर्म सुष्ठु अनुष्ठीयताम्। अब आगे आचार्यश्री बताएंगे कि उसे किस भाव से युक्त होकर करना चाहिए।

सूत्र : ३

।। तेनेशस्यविधीयताम् अपचितिः ।।

उन कर्मों के द्वारा ईश्वर की पूजा करों।

अपने वर्ण और आश्रम के अनुरूप कर्म को अपना धर्म समझकर पालन करने का विधान आचार्य श्री ने किया। कर्मक्षेत्र अपने आपमें बहुत जटिल होता है, यदि उसे करने की कला को नहीं जाना तो यह कर्म बन्धन का कारण बन जाता है। यदि कर्म में उचित भावना का समावेश नहीं किया तो कर्म से जो भी फल प्राप्त होता है, वह मन में राग व द्वेष उत्पन्न करता है। और इन राग द्वेष के वशीभूत होकर हर परिस्थिति में प्रतिक्रिया होती है। इस प्रतिक्रियात्मक स्वभाव के कारण व्यक्ति अपनी कर्म की, वैचारिक आदि समस्त स्वतंत्रता खो बैठता है। उसका प्रत्येक कर्म अपने सुख व सुरक्षा आदि की चिन्ता से प्रेरित, स्वार्थप्रेरित व फलाकांक्षा से युक्त होता हैं। उसकी दृष्टि में कर्म की अपेक्षा कर्मफल अर्थात् भविष्य का महत्व ज्यादा होने के कारण कर्म तथा वर्तमान क्षण बोझा बन जाता है। ऐसे में न तो कर्म को छोड़ने में समर्थ हो पाता है और न ही कर्म करने में। कर्म एक समस्या रूपा बन जाता है।

कर्म की इन सम्भावित समस्याओं से मुक्त होने का शास्त्रोक्त तरीका आचार्य बताते हैं कि हमें वर्णाश्रम के अनुरूप अपने धर्म का बोध हो जाने पर उन कर्म को ईश्वर की पूजा की तरह सम्पन्न करें। कर्म को ईश्वर की पूजा बनाना ही कर्मयोग वा यज्ञभाव है। ईश्वर के अस्तित्व के प्रति श्रद्धा और भक्ति ही कर्मयोग के प्राण है। इन सुन्दर सृष्टि को देखकर सृष्टा का निश्चय तथा सृष्टि में व्यवस्था एवं संवादिता को देखकर व्यवस्थापक का निश्चय होना चाहिए। उन कर्ता-धर्ता ईश्वर की कृपा से ही हमारा, जगत आदि सब का अस्तित्व है। उनकी अनवरत कृपा प्रत्येक परिस्थिति में बरस रही है। प्रत्येक परिस्थिति उनके ही संकल्प से हैं, उसके लिए प्रत्येक जीव निमित्त मात्र ही है। यदि जीव कुछ करता है तो उनमें कर्म का सामर्थ्य उनकी कृपा का प्रसाद है, कर्म का क्षेत्र जो सामने परिस्थिति बनकर प्रस्तुत है, वह भी उन्हीं का प्रसाद है, क्योंकि एक परिस्थिति के निर्मित होने में समस्त ब्रह्माण्ड का योगदान आपेक्षित है, ईश्वर ही उन समस्त घटकों को नियंत्रित करते हैं। हमारे द्वारा जो कर्म सम्पन्न होता है, उसकी प्रेरणा भी उन्हीं के द्वारा प्रदत्त है। यदि अपने स्वार्थ को किनारे रखकर देखें तो उनकी अथाह करुणा ही समक्ष होती है। ऐसे ईश्वर की करुणा और महानता देखकर मन धन्यता से

युक्त हो जाना चाहिए। ऐसे करुणानिधान, सुहृरत प्रभु के लिए हम क्या कर सकते है? धन्यता की अभिव्यक्ति हमें प्रदत्त कर्तव्य के निर्वाह की तरह ही हो सकती हैं।

ईश्वर को जो प्रिय हो, वही उनकी सेवा में समर्पित करते है। ईश्वर को धर्म प्रिय होने की वजह से वे अपनी परं अवस्था से धर्म-संस्थापना व रक्षा हेतु अवतरित होते हैं। यदि ईश्वर के प्रति अपने प्रेम की अभिव्यक्ति करना चाहें तो अपने कर्तव्यकर्म का पालन अत्यन्त धन्यता के साथ करना सीखें। कर्तव्यकर्म को धन्यता के साथ करना धर्माचरण होता है। कर्म में निःस्वार्थता का समावेश होने लगता है, इन्हीं कर्मों के द्वारा ईश्वर की पूजा होती है। कर्म का जो भी फल प्राप्त होता है, उसमें प्रसादबुद्धि का समावेश होने लगता हैं, जिसे धन्यता और सहर्ष स्वीकार करने पर राग-द्वेष जो कि स्वार्थकेन्द्रित होते थे वह समाप्त होने लगते हैं। एवं राग-द्वेष के सिकंजे से मुक्त होकर परिस्थिति को तटस्थतापूर्वक देखने का सामर्थ्य उत्पन्न होने लगता है। जिसमें यह सामर्थ्य उत्पन्न हुआ, वह अनेकों कर्मजनित समस्याओं से मुक्त होकर विचारशील बनता हैं, प्रतिक्रियात्मक स्वभाव की समाप्ति होने लगती है। तथा वह ही आत्मज्ञान के श्रवण का भी अधिकारी बनता हैं।

सूत्र : ४

।। काम्ये मतिस्त्यज्यताम् ।।

सकाम कर्म का त्याग करें।

भगवती श्रुति माता जीव मात्र पर उपकार हेतु विविध कर्म व उपासना का प्रतिपादन करती है, जिससे वह ज्ञान की प्राप्ति हेतु पात्र बन सके और परमात्मा को अपनी आत्मा की तरह जानकर मुक्त हो जाए। इन कर्म के अन्तर्गत सकामकर्म की भी चर्चा श्रुति करती है। जगत में तीन प्रकार के मनुष्य देखे जाते हैं। वह है - सात्विक, राजसी और तामसी। जो भी तामसी व्यक्ति जिन्हें कुछ भी कर्म करने की प्रेरणा नहीं होती है। वह अपना जीवन आलस्य और प्रमाद में निष्क्रिय बने रहकर व्यर्थ गंवा देता है। अतः उन्हें स्वर्गादि जैसे दिव्य भोग के प्रलोभन देकर श्रुति कर्म में प्रेरित करती है। जिससे वह अपने आलस्य और प्रमाद को त्याग कर कर्म में प्रेरित हो सके। ऐसे सकाम कर्म का योगदान मात्र तमस् को दूर करके कर्म में प्रेरित करने हेतु तथा ईश्वर के प्रति श्रद्धा और प्रेम को जगाने व दृढ़ करने मात्र के लिए होता है। जो व्यक्ति कर्म में प्रवृत्त हो चुका है, उन्हें काम्यकर्म के त्याग की प्रेरणा दी जाती है।

वस्तुतः काम्यकर्म किसी कर्मविशेष को नहीं बोलते है, किन्तु वह कर्म जो स्वार्थ से जनित अपनी वासना व इच्छा की पूर्ति की प्रेरणा से युक्त होता है। जिस कर्म में कर्म से अधिक फल का महत्व होता है। यह फल अपने से पृथक् किसी बाह्यपदार्थ से सम्बद्ध होता है, वह इन्द्रिय का विषय या अहं की संतुष्टि का कोई भी निमित्त हो सकता है। कामना के उद्भव के पीछे हेतु अपने बारे में अल्पता की बुद्धि तथा अपने से पृथक् विषय के प्रति महत्व की बुद्धि हुआ करती है - जो कि यह अविचार से उत्पन्न मोह तथा नासमझी ही है। इस कामना की पूर्ति की वजह से जीवभाव अर्थात् अपनी क्षुद्रता में और भी निष्ठा होती जाती है, तथा मनुष्य को बहिर्मुख बनाती है। जिस समय कामनापूर्ति की प्रधानता से प्रेरित कर्म होता है, तो वहां कर्म की गौणता तथा उसके फल की प्रधानता हो जाती है। अतः भविष्य की चिन्ता ही सिर पर मण्डराती रहती है। ऐसे में हमारी वर्तमान में उपलब्धता नहीं हो पाती है। अतः कर्म भी प्रभावित होता है, तथा कर्मफल भी इच्छानुरूप प्राप्त नहीं होता है। जिसके कारण वर्तमान भूतकाल की ग्लानि से भर जाता है। एवं जीवन अशान्ति और विक्षेप से भर जाता है। अतः काम्यकर्म का दोष देखना चाहिए। यदि इसका दोष दिखने लगता है, तो कर्म में

सकामता को त्यागते हुए, स्वार्थ की चिन्ता से रहित होने लगता है। किन्तु यदि स्वकेन्द्रिता की तीव्रता होती है, तो इतना दोष देखने मात्र से उसका त्याग नहीं हो पाता है।

ऐसे में वेद काम्यकर्म की पूर्ति के लिए मार्गदर्शन देते हैं। इसे भगवान के द्वारा प्रदत्त प्रेरणा समझते हुए करना चाहिए। वह भी शास्त्र अनुमोदित तरीके का आश्रय लेते हुए ही करने योग्य है। यह वह तरीका होता है कि जिसमें अपने साथ पूरी समष्टि के प्रति संवेदना से युक्त होकर किया जाता है। इस प्रकार से किया हुआ कर्म मन को वासना के बोझे से हल्का करते हुए काम्यकर्म के सम्भावित दोषों से मुक्त करता है। उसी शास्त्रविहित तरीके का नाम यज्ञभाव है। जिसमें समष्टि को ध्यान में रखकर, उसे ईश्वर की आज्ञा समझकर किया जाना चाहिए। इस प्रकार से किये हुए कर्म का फल प्रसाद रूपा बन जाता है, जिसे धन्यता के साथ स्वीकार किया जाता है। इसे ही पूर्व सूत्र में ईश्वरार्पण बुद्धि रूपा बताया। एवं इस भाव ये कर्म किया जाएं तो सकाम कर्म का त्याग होने लगता है।

सूत्र : ५

।। पापौघः परिधूयताम् ।।

पाप के पूंज को धो डालें।

पूर्वसूत्र में आचार्य ने काम्यकर्म के त्याग का विधान किया था। जैसे जैसे कामना अर्थात् स्वार्थ प्रेरति कर्म का त्याग होता जाता है वैसे वैसे पापों का मार्जन होता जाता है। शास्त्र की दृष्टि से धर्ममय आचरण ही पुण्यकर्म है तथा तद्विपरीत कर्म पापकर्म है। किन्तु जब शास्त्र के ज्ञान का अभाव है तो कैसे निश्चय करा जाए कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है?

इसे समझने के लिए आचार्यगण यह मापदण्ड देते हैं कि जिस कर्म के संकल्प से मन में निरुत्साहिता होती है, तथा मन अशान्त व विक्षेप का अनुभव करता है, कर्म करते समय भी मन में उत्साह व प्रसन्नता नहीं होती तथा करने के उपरान्त कर्म की संतुष्टि नहीं लगती है, तो वह ही पापकर्म है। तद्विपरीत जिस कर्म के संकल्प मात्र से उत्साह, प्रसन्नता व धन्यता का अनुभव होता है, जिसे करने के समय मन शान्त है, विचारशील है, तथा उत्साह से प्रेरित है, कर्म के

उपरान्त मन में प्रसन्नता तथा कर्म की संतुष्टि का अनुभव होता है, तो उस कर्म को पुण्यकर्म माना जाता है। वैसे कोई भी कर्मविशेष को पाप वा पुण्य नहीं माना जा सकता है। किन्तु कर्म के पीछे की भावना ही उसे पाप व पुण्य की श्रेणी में ले आती है।

इस पर थोड़ा गहराईसे विचार करें तो यह बात दिखाई देती है कि जिस भी कर्म में हमारा व्यक्तिगत स्वार्थ निहित होता है तथा कर्मफलदाता ईश्वर की विस्मृति है, तो वहां अपने उपर कर्तृत्व का बोजा होता है। स्वार्थ की तीव्रता के कारण अपने सुख-सुरक्षा के लिए उसके फल के प्रति ही आश्रित होने की वजह से भविष्य की चिन्ता व विक्षेप का होना स्वाभाविक है। ऐसे कर्म में मन समग्रता से नहीं लग पाने के कारण कर्म के उपरान्त कर्म की संतुष्टि नहीं लगती है, तथा कर्म की असंतुष्टि मन में ग्लानि व पीड़ा उत्पन्न करती है। जब भी कर्म स्वार्थप्रेरित न होते हुए औचित्य समझते हुए अथवा प्रभु की आज्ञा के पालन के भाव से, समष्टि के प्रति संवेदनशीलता के साथ किया जाता है, तो वहां ईश्वर की भी स्वीकृति, तथा उनके प्रति श्रद्धा है, तो मन में निश्चिन्तता लाती है। उसके अलावा स्वार्थ का अभाव तथा भविष्य की चिन्ता से रहित होने

की वजह से कर्म वर्तमान में उपलब्धता के साथ होता है। वह कर्म सदैव आनन्द व प्रसन्नता का कारण बनता है। वर्तमान में उपलब्धता ही प्रसन्नता की अनुभूति का निमित्त बन जाता है। इस प्रकार से किया कर्म समग्रता से होता है, वह कर्म मन में उत्साह का संचार करता है तथा कर्म के उपरान्त संतुष्टि का अनुभव कराता है। एवं पाप तथा पुण्यकर्म मूलरूप से स्वकेन्द्रिता से प्रेरित व स्वार्थ के अभाव में किये हुए कर्म का ही नाम है।

इस तरह पिछले सूत्र के अनुरूप काम्यकर्म अर्थात् स्वार्थ प्रेरित कर्म का त्याग होने से तथा ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म होने की वजह से ही पाप का समूह धुलने लगता है, तथा इसके रागादि सम्भावित दोष की भी शिथिलता होने लगती है, तथा मन शुद्ध होने लगता है।

सूत्र : ६

।। भवसुखे दोषोऽनुसन्धीयताम् ।।

संसार के सुखों में दोषों का अनुसन्धान करें।

पिछले सूत्र में आचार्य ने पाप के पुंज को धोने की बात कही थी, अर्थात् अपने अहं-केन्द्रित तथा स्वार्थप्रेरित कर्म को त्यागना बताया था। जैसे जैसे स्वार्थ के बोझ से मुक्त होने लगते है, वैसे वैसे किसी भी परिस्थिति को तटस्थतापूर्वक देखने का सामर्थ्य जगने लगता है। इस सामर्थ्य से युक्त होने पर ही अपनी समस्या का स्वरूप समझ में आने लगता है।

इस सूत्र में आचार्य बताते हैं कि भव के सुख में दोष का अनुसंधान करो। भव अर्थात् संसार, बनना। जगत के विषयों से तटस्थ होकर सोचने पर यह दिखता है कि इन जगत के विविध विषयों की प्राप्ति और उसके भोग को निमित्त बनाकर हम अपने बारे में वर्तमान स्थिति से परिवर्तन चाहते हैं। आज हम जैसे भी है, वैसे अपने आपमें अपने आपको स्वीकार्य नहीं हैं। विविध विषय की प्राप्ति के माध्यम से सुखी बनना चाहते हैं,

क्योंकि हम सुखी नहीं हैं। संतुष्ट होना चाहते हैं, क्योंकि हम संतुष्ट नहीं हैं। शान्त होना चाहते हैं, क्योंकि हम शान्त नहीं हैं। अपनी समस्त प्रवृत्ति और निवृत्ति के पीछे प्रेरणा का यह स्वरूप समझ में आने लगता है कि, हम वर्तमान से भिन्न कुछ बनना चाहते हैं। अथवा यह कहें कि अहं की संतुष्टि के लिए ही जीवन जीते हैं। बाह्य परिवर्तन करते हुए यदि परिस्थिति अपने अनुकूल हो जाती है तो हर्षित हो जाते हैं तथा यदि प्रतिकूल हुआ तो शोकाकुल होने लगते हैं। इस प्रक्रिया में अनेकों दिव्य, बड़े उत्कृष्ट प्रकार के भोग भी भोगे हैं। किन्तु प्रत्येक उपलब्धि के उपरान्त भी न हमारी चाह में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं होता है और न ही किसी भी प्रकार से हमारी अपूर्णता, कमी व छोटेपन की निवृत्ति हो पा रही है। तद्विपरीत मन में नई वासनाएं, राग-द्वेष आदि जन्म लेते हैं। ऐसा लगता है कि हमारे प्रयास व कर्म सब निरर्थक हो रहे हैं। हमारे समस्त प्रयासों की सीमा है, इन सीमित प्रयासों से हमारे अन्तर्तम हृदय की जो प्यास है, वह समाप्त नहीं हो सकती है। अपने अन्दर मूलभूत कोई परिवर्तन नहीं होता है। पहले भी हम सब के अभाव में सीमित, अपूर्ण जीव बने हुए थे। और विशेष उपलब्धि के उपरान्त भी हम उन उपलब्धियों से युक्त विशिष्ट जीव ही बने रहते

है। इससे हमारी मूलभूत समस्या ज्यों कि त्यों ही बनी रहती है।

यह बात दिखानी चाहिए कि बाह्य परिस्थिति के परिवर्तन के माध्यम से अपने अन्दर कुछ परिवर्तन करना, यह दोषपूर्ण है। जब अपने समस्त कर्म तथा उसकी उपलब्धि की सीमा का एहसास होता है, तब मन समाहित होने लगता है। तब ही बाह्य परिस्थिति से स्वात्मसंतुष्टि की चेष्टा शान्त होने लगती है और मन समाहित होता है। ऐसे समाहित मन ही समस्या की गहराई में जाकर विचार करने में समर्थ होता है, तथा तब ही समाधान की दिशा में सही कदम उठ पाता है। संसार से विरक्त होने के लिए इनसे प्राप्त अनित्य सुख में दोष का दर्शन परं आवश्यक है। भगवान भी गीता में संसार के सुख में दोषानुदृष्टि को मूल्य की तरह बताते हैं कि - जन्ममृत्युजराव्याधिदुःख दोषानुदर्शनम्।

सूत्र : ७

।। आत्मेच्छा व्यवसीयताम् ।।

आत्मा को जानने की इच्छा करें।

पिछले सूत्र में आचार्य ने संसार के सुखों में दोषदृष्टि रखने का विधान किया था। इस संसार के सुख क्षणिक है, इससे प्राप्त सुख अहं की संतुष्टि मात्र का ही कारण बनता है। किन्तु जिस अहं को संतुष्ट करने की चेष्टा होती है, वह अहं कभी भी संतुष्ट होता नहीं दिखता है। इसी अहं की संतुष्टि के लिए जन्म-जन्मान्तर से प्रयास चल रहे हैं, अब इसकी चेष्टा निरर्थक दिखने लगती है। इस तथ्य के प्रति सभान होना जगत के प्रति वैराग्य का सूचक है। यह ईश्वर की महान कृपा है। अध्यात्मयात्रा का यह प्रथम पड़ाव है।

जब यह बात दिख जाती है कि हमारे अहं की संतुष्टि अपने सीमित प्रयासों से कभी भी हो नहीं सकती है, अतः इस दिशा में अब प्रयास करना उर्जा एवं समय का व्यर्थ व्यय मात्र है। विडम्बना यह होती है कि न तो हम प्रयास कर सकते हैं साथ ही इन प्रयासों को न तो हम रोक पाते हैं। यहां पर आवश्यक

है कि हमें कुछ विचार करना होगा। जन्म जन्मान्तर से जिस दिशा में चेष्टा चल रही है, उसे रोक कर अन्तर्मुख होना पड़ेगा। यह बात स्पष्ट है कि हम बाहरी परिस्थितियों के माध्यम से अहं की स्थिति में ही कुछ परिवर्तन चाहते हैं, वह कभी तो संतुष्ट दिखता है पर कुछ क्षणों के लिए ही। पुनः यथावत् चेष्टाएं शुरु हो जाती हैं। उस स्थिति में मूलभूत कोई परिवर्तन नहीं होता है। क्योंकि उसके लिए जिन चीजों का आश्रय लिया जा रहा था वह ही क्षणिक व दृष्ट-नष्ट स्वभाव वाली वस्तु है। अपने से पृथक् समस्तदृश्य जगत मात्र का यह ही स्वभाव दिखता है। इस अहं की पूर्ण व शाश्वत संतुष्टि चाहते हैं, जो कि इससे सम्भव नहीं है। किन्तु यह स्वाभाविक इच्छा भी है, अतः यह किसी अन्य तरीके सम्भव भी होना चाहिए।

अतः हमें ऐसी किसी नित्य व शाश्वत की ही तलाश करनी होगी कि जो अपने आपमें शाश्वत व पूर्ण हो। इसके लिए हमने दृश्य जगत् के विविध पहलुओं को तो खोजा किन्तु दृश्य से भिन्न यह दृष्टा अर्थात् अहं के बारे में कभी भी विचार करके नहीं देखा। कहीं ऐसा तो नहीं कि हम जिस अहं में कुछ परिवर्तन चाहते हैं, उस अहं के बारे में ही कोई कल्पना करी हो, और

समस्त चेष्टाएं इस काल्पनिक समस्या का समाधान करने के प्रति समर्पित हो रही है। समस्त शास्त्र का यह ही उद्घोष है कि मुक्ति की अवस्था की प्राप्ति के लिए जिस पूर्णतत्त्व की तलाश है, वह अपनी आत्मा की तरह से ही विद्यमान है। अपने बारे में अज्ञान ही समस्त बन्धन का हेतु है तथा उसके ज्ञान मात्र से ही मुक्ति सम्भव होती है। अतः दृश्य को छोड़कर दृष्टा को जानने की दिशा में प्रवृत्ति हो, उस विषयक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान श्रोत्रिय - ब्रह्मनिष्ठ गुरु के श्रीमुख से वेदान्त का श्रवण मात्र से ही सम्भव होती है।

सूत्र : ८

।। निजगृहात्तूर्णं विनिर्गम्यताम् ।।

अपने घर से शीघ्र ही निकल जाएं।

पिछले सूत्र में आचार्य ने बताया कि जहां मन में संसार के सुखों के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो, तथा संसार से मुक्ति की इच्छा जन्में तो यह कर्तव्य बनता है कि आत्मा को जानना चाहिए। अपने वास्तविक स्वरूप के ज्ञान से ही भवबन्धन से मुक्ति हो सकती है।

अब यहां बताते हैं कि आत्मा के ज्ञान के लिए घर का शीघ्र त्याग करना चाहिए। यहां प्रश्न यह होता है कि आत्मा का ज्ञान क्या घर में रहकर प्राप्त नहीं हो सकता है? विवेक के फलस्वरूप आत्मज्ञान की इच्छा उत्पन्न होने पर साधक को ज्ञान की प्राप्ति के लिए उचित साधन का आश्रय लेना ही चाहिए, जो कि शास्त्र के द्वारा प्रामाणित हो। घर में निवास करने में व्यकित के साथ दो चीजें जुड़ी रहती हैं १. कर्तव्यता और २. आसक्ति। जब तक घर में रहता है तब तक जिन परिवार व समाज के साथ सम्बन्ध से युक्त है, उनके प्रति उनका कर्तव्य रहता है। वैदिक दर्शन के अनुसार

गृहस्थ नित्य-नैमित्तिक आदि कर्म का अधिकारी होता है। समाज के समस्त आश्रम उनके प्रति आश्रित होते हैं, अतः उनके लिए, परिवार के लिए तथा समाज के लिए कर्म करना उनका कर्तव्य होता है। वह कर्तव्यता बुद्धि से बन्धा हुआ है। कर्तव्यता के बन्धन में तटस्थतापूर्वक विचार नहीं हो पाता है। आत्मज्ञान के लिए अपने व जगत् के बारे में तटस्थतापूर्वक विचार आपेक्षित है। तब ही अपने असीम, कर्ता-भोक्तापन से रहित स्वरूप के ज्ञान में अवस्थिति हो सकती है। कर्तव्यता से युक्त अपने आपमें कर्तापन को दृढ़ करना है। किन्तु घरबार का त्याग कोई कर्तव्यता से पलायन नहीं है। जिसे अब कर्तव्यपालन बोझ नही लग रहा है, जिसने कर्म को पूजा बनाकर प्रेमपूर्वक करना सीखा है, तथा जिसे अब कर्म की मर्यादा का भान हो चुका है, उसे ही यह विधान किया जाता है। इसके अलावा घर परिवार में रहने पर अनेकों प्रकार की सुख-सुविधाओं को भोग करता है, सुरक्षा का अनुभव करता है। अतः उन-उन प्रति पराधीनता होने की सम्भवना होती है।

घर से निकलने का अभिप्राय कर्तव्यों से मुक्त होना है, तथा सुख व सुरक्षा से युक्त वातावरण से निकलना है। इस वातावरण से निकलने के लिए ईश्वर के प्रति

तीव्र श्रद्धा होनी चाहिए। जब ईश्वर के प्रति आश्रित होकर घर से निकलते हैं, तो श्रद्धा और भी दृढ़ होती जाती है। इसके अलावा जिन लौकिक वस्तुओं के प्रति आश्रित होते हैं, उनके अभाव में जीने का साहस होता है, जो कि अपने अन्तर्गत के आत्मबल का परिचय स्वयं को मिलता है। इस बात का भान भी होता है कि हमारी सुख व सुरक्षा इन जड़ वस्तुओं की वजह से नहीं है, किन्तु ईश्वर की कृपा से ही है। धन्यता से युक्त होकर वह जीने लगता है, इस प्रक्रिया में वैराग्य और भी ज्यादा दृढ़ और तीव्र होता जाता है। यह वैराग्य विवेकजनित होता है, अतः उसमें स्थायित्व होता है। इस प्रकार की मनःस्थिति आत्मज्ञान के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

सूत्र : ९

।। संगः सत्सु विधीयताम्।।

सत्पुरुषों का संग करें।

पिछले सूत्र में आचार्य ने बताया कि आत्मज्ञान के लिए घर का, अर्थात घर के प्रति आसक्ति का त्याग करें। आत्मज्ञान के लिए घरबार का त्याग करना आपेक्षित है परन्तु उसके उपरान्त कहां जाना, क्या करना! तो आचार्य बताते हैं कि सत्संग का आश्रय लें।

सत्संग में जीवन के सत्य का ज्ञान, जीव, जगत एवं ईश्वर का ज्ञान, भगवान की लीलामय कथा का श्रवण, भगवान के गुणों का गान आदि की प्रधानता, धर्ममय आचरण का उपदेश तथा जीवन के महान लक्ष्य से परिचय प्राप्त होता है। भगवल्लीला के गुणगान के माध्यम से भगवान के सुन्दर गुण व महिमा का परिचय प्राप्त होता है। भगवान के प्रति तीव्र श्रद्धा व प्रेम जब तक नहीं दृढ़ होता है, तब तक न तो उनकी प्राप्ति स्वरूप आत्मज्ञान की सिद्धि हो पाती है और न तो उसके लिए पात्रता जगती है। यह समस्त कार्य मात्र सत्संग का आश्रय लेने से ही सम्पन्न हो जाता है।

भगवान की महिमा का जैसे जैसे श्रवण करते हैं, वैसे वैसे मन में उनके प्रति भाव जगता है, तथा मन उस रंग में रंगता जाता है। मन का स्वभाव है कि जिसकी सन्निधि में आता है, उसके रंग में रंगता जाता है। अतः भगवान के गुणश्रवण से मन में भी ऐसे सुन्दर मूल्यों का आदान होने लगता है। भगवान के प्रति श्रद्धा व भक्ति की दृढ़ता होती जाती है। ऐसा मन शान्ति और प्रसन्नता से युक्त होता जाता है तथा विचार करने में भी समर्थ हो पाता है।

साधारणतः सत्संग अर्थात् सत्पुरुषों का संग। जो लोग सत् अर्थात् परमात्मतत्त्व में विचरण कर रहे हैं अथवा जो सन्मार्गगामी हैं। इसमें दुःसंग का त्याग भी आपेक्षित है। जैसे बताया गया कि मन पर संग का बहुत शीघ्र प्रभाव पड़ता है। जैसा संग होता है, वैसा मन होता जाता है। सत्पुरुष जो परमात्मा के गुणगान करते हैं अथवा उसी तत्त्व में रमते हैं। उनके संग से मन भी परमात्मा के प्रति प्रेम के रंग में रंगता जाता हैं। भक्ति की दृढ़ता होने लगती है। परमात्मा के प्रति प्रेम बढ़ने पर वैराग्य की भी प्राप्ति होती है। उनकी सन्निधि की प्राप्ति की वजह से जैसा सन्त का आचरण होता है, वैसा आचरण भी होने लगता है। सन्तों के

समस्त आचरण में धर्म की सुगन्द होती है। उनकी सन्निधि में तथा उनके आचरण को देखने मात्र से भी ऐसे धर्ममय आचरण का परिचय तथा उसकी प्रेरणा प्राप्त होती है।

वास्तविक सत्संग वह होता है, जिसके माध्यम मन के दोषों को दूर करके भगवान के प्रति श्रद्धा और भक्ति को बढ़ाएं, मन का मार्जन करें। दुःसंग का भी मन पर प्रभाव पड़ता है। मन मलिन होता जाता है तथा अभिमान की वृद्धि होती है। जैसे जैसे अभिमान बढ़ता जाता है, वैसे वैसे भगवान से दूरी भी बढ़ती जाती है। अतः ऐसे संग का आश्रय लेना चाहिए जिससे मन भगवत्श्रद्धा से युक्त हो सके।

सूत्र : १०

।। भगवतो भक्तिदृढ़ाधीयताम् ।।

भगवान के प्रति भक्ति दृढ़ करें।

पिछले सूत्र में आचार्य ने बताया कि घर आदि के प्रति आसक्ति को त्याग कर सत्संग का आश्रय लेना चाहिए। यहां इस सूत्र में आचार्य बताते हैं कि भगवान के प्रति भक्ति को दृढ़ करें। भगवान के प्रति भक्ति को दृढ़ करने के लिए भक्ति किसे कहते है, भक्ति से क्या तात्पर्य है, यह समझना चाहिए। भक्ति अर्थात् प्रेम, यह मन के अन्तर्गत की एक सुन्दर भावना है। जैसे अनेकों सांसारिक वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति के प्रति यह भाव होता है कि हमें यह पसंद है अथवा अच्छा लगता है। यह अच्छा लगने का भाव ही हमारा उसके प्रति प्रेम दर्शाता है। उन सांसारिक वस्तुओं के प्रति प्रेम का हेतु होता है कि उससे हमें सुख की अनुभूति होती है। जिसके भी प्रति यह भाव होता है, उसके स्मरण से, उसकी प्राप्ति से ओर उसके भोग से मन का वातावरण सुकून देनेवाला आह्लादक बनता है। इन वस्तुओं के प्रति इस प्रकार का भाव हमें सुख तो देता है किन्तु

उसमें एक दोष है कि वह सुख क्षणिक है। क्योंकि वह विषय अपने आपमें नाशवान तथा जड़ है। अतः वह सुख स्थायी नहीं रहता है। इसके प्रति प्रेम में उस वस्तु की महिमा की प्रधानता नहीं होते हुए स्वकेन्द्रिता होती है, कि क्योंकि यह हमें सुख दे रहा है इसलिए प्रिय है।

भगवान के प्रति भक्ति में मन की स्थिति में कुछ हद तक इसके साथ समानता है। जिस समय ईश्वर का स्मरण मन में रोमांच उत्पन्न करते हुए मन को द्रवित करें तो यह ईश्वर के प्रति भक्ति है। प्रेम को जगाने के लिए या तो उस वस्तु का सुखद अनुभव आपेक्षित है अथवा उनके बारे में ऐसा ज्ञान जो अपने से सम्बद्ध हो। यह ज्ञान सत्संग से ही होता है। जैसे जैसे ईश्वर के बारे में जानते है कि कैसे हम पर उनकी कृपा बरस रही है। वे ही जगत के सृष्टा है, नियन्ता हैं, कर्मफलदाता हैं। उनकी असीम कृपा प्रत्येक परिस्थिति के माध्यम से बरस रही है। प्रारम्भ में ईश्वर को अपने जीवन से सम्बद्ध देखते हुए उनकी बरसती हुई कृपा देखने के द्वारा मन में प्रेम जगाया जाता है। फिर उसके उपरान्त यह बात दीखने लगती है कि हमारा होना मात्र ही उनका कृपा प्रसाद है। यह दृष्टि मन को धन्यता से भर देती है। उनके भजनीय होने का एहसास ही मन में

भक्ति बढ़ाने में हेतु बनता जाता है। जैसे जैसे मन में भक्ति के पुष्प खिलते जाते हैं, वैसे वैसे अहंकार का विसर्जन होता जाता है। विनम्रता से युक्त होकर उनके बारे में और जानने की प्रेरणा होती है। अन्ततः प्रेम की पराकाष्ठा यह होती है कि उनके साथ एक होने की मन में इच्छा जग जाती है। यह प्रेम ही ईश्वर के वास्तविक स्वरूप के बारे में जिज्ञासा का हेतु बनता हैं।

सूत्र : ११

।। शान्त्यादि परिचीयताम् ।।

शान्ति आदि गुणों को अपने अन्दर विकसित करें।

पिछले सूत्र में आचार्य ने भगवान के प्रति भक्ति दृढ़ करने का विधान किया उसके उपरान्त अब शान्ति आदि गुणों को विकसित करने का विधान देते हैं। जीवन के मोक्ष रूपी परं पुरुषार्थ के लिए गुरु के श्रीचरणों में बैठ्कर आत्मज्ञान का श्रवणादि करना चाहिए। किन्तु उसके लिए मन में उचित पात्रता का होना परं आवश्यक है। इस पात्रता को ही शास्त्रों में साधन चतुट्य सम्पत्ति कहते हैं, जहां विवेक, वैराग्य, शमादि षट्क सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व होते हैं। जहां संसार के सुखों की अनित्यता का निश्चय किया और उनसे विमुख हुए यह विवेक और वैराग्य है। इन विवेक और वैराग्य को फलित होने के लिए तथा उसकी दृढ़ता के लिए मन और इन्द्रियों के धरातल पर जिन मूल्यों की अपेक्षा होती है, उसे ही यहां आचार्य ने शान्ति आदि कहा। यह ही शमादि छह सम्पत्ति - शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान हैं।

१. शम : शमः अर्थात् मनो निग्रह।

मन पर ऐसा स्वामित्व हो कि हम मन को जहां भी चाहें, उस दिशा में ले जा सकें, और उसमें अच्छी तरह एकाग्रतापूर्वक लगा पाएं। मन वृत्तियों का प्रवाह है। उसमें सतत विविध प्रकार की वृत्तियां आती जाती रहती हैं। जब अनिश्चय होता है तब मन को एक विषय में लगा पाना कठिन हो जाता है, जिससे मन विक्षिप्त रहता है, अतः किसी भी सूक्ष्म विषयक चिन्तन को गहराई व एकाग्रता से कर पाना असम्भव सा हो जाता है। इसके अलावा अन्य जड़ विषयक चिन्तन की वजह से उर्जा का भी क्षय होता है, तथा मन जड़त्व को प्राप्त होता है। अतः आवश्यक है कि शम अर्थात् मन के निग्रहरूपी सामर्थ्य को विकसित किया जाए।

मन में शम रूपी मूल्य का अभाव दो कारणों से होता है - १. मन को अब तक कभी निग्रहीत करने का अभ्यास नहीं किया होने के कारण मन आदतवशात् अन्य विषयों में पलायन करता है। २. जब वर्तमान वस्तु वा विषय के प्रति रस की अनुभूति नहीं हो रही हो तो रसास्वादन के लिए विविध विषयों के प्रति पलायन करता है। इन दो बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुए मन में शम रूपी मूल्य को विकसित करने का

अभ्यास करना चाहिए। इसके लिए सर्व प्रथम लक्ष्य के बारे में स्पष्टतापूर्वक निश्चय हो। इसके उपरान्त अभ्यास और वैराग्य का आश्रय लें। मन में आवागमन करने वाले विचारों के प्रति सजगता बनाएं रखें। जब अन्य विषयों में पलायन करने की वृत्ति हो तो उसे अभ्यासपूर्वक वर्तमान विषय में स्थापित करना चाहिए। जब तक लक्ष्य के प्रति प्रेम नहीं जगेगा तथा अन्य विषयों के प्रति महत्वबुद्धि से युक्त रहेगा, तब तक मन रसास्वादन के लिए अन्य विषयों के प्रति जाएगा। अतः लक्ष्य के प्रति अत्यन्त प्रेम होना चाहिए, तथा अन्य समस्त विषयों के प्रति वैराग्य हो, ऐसे कुछ बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुए जब अभ्यास किया जाता है तो शम रूपी सम्पत्ति प्राप्त होने लगती है।

२. दमः दूसरी सम्पत्ति की तरह से दमः अर्थात् इन्द्रिय निग्रह बताया गया है। इन्द्रियां स्वाभाविक ही बहिर्मुख होती है, तथा विषयों के प्रति आकर्षण स्वभाव से ही होता है। इन्द्रियों की चंचलता का प्रभाव मन के उपर भी पड़ता है। अतः इन्द्रिय निग्रह आपेक्षित है। इन्द्रिय निग्रह का अभिप्राय है कि हम जब चाहें इन्द्रिय को उनके विषय में प्रवृत्त कर सकें, तथा जब चाहें, उसे विरत कर सकें। ऐसी स्थिति में हमारी स्वतंत्रता

दिखाती है। जब विषय को ग्रहण करने के समय स्वकेन्द्रिता से युक्त दृष्टि का आश्रय नहीं लिया जाता है, तो राग व द्वेष से रहित दृष्टि होती है। ऐसे में वह विषय इन्द्रियों को प्रेरित नहीं करता है, किन्तु हम जहां महत्वबुद्धि स्थापित करते हैं, वह ही प्रेरित करता है, इस प्रकार इन्द्रिय के उपर प्रभुत्व स्थापित होने लगता है। इसके लिए शास्त्र के द्वारा दिए गए विधि-निषेध का पालन करना अत्यन्त सहायक होता है।

३. उपरति : तीसरा गुण होता है - उपरति। उप अर्थात् समीप और रति अर्थात् रमण। इसका मतलब होता है कि अपने आपमें रमण करना। इससे प्रेम व एकाग्रतापूर्वक आत्मचिन्तन करने का सामर्थ्य जगता है। इसके लिए पूर्णतया वर्तमान में उपलब्धता आपेक्षित है, क्योंकि आत्मा अर्थात् 'मैं' इसी समय वर्तमान के क्षणों में उपलब्ध है। वर्तमान को छोड़कर भूत और भविष्य में ले जानेवाले जो भी कारण है उसको समझकर उसका निराकरण करना होगा।

आचार्य उपरति की परिभाषा तत्त्वबोध नामक ग्रंथ में देते हैं - स्वधर्म अनुष्ठानमेव। स्वधर्म का अनुष्ठान अपने आप में तो उपरति है ही तथा उपरति गुण को

और भी विकसित करने के लिए साधन रूप होता है। स्वधर्म वो होता है कि जो व्यक्ति का सहज झुकाव का क्षेत्र हो। जिसमें न तो कोई चेष्टा लगती है और न ही मानसिक थकान होती है, बल्कि प्रेम व समग्रता से कर्म होता है। ऐसा कर्म करते समय मन में फल की कोई आसक्ति नहीं होती है। उसका आनन्द वर्तमान के कर्मों से ही उपलब्ध होने लगता है। बाद में भी कर्म के समय पूर्ण उपलब्धता की वजह से किसी प्रकार की ग्लानि व संताप नहीं होता है। अतः भूतकाल के भी सिकंजे से मुक्त रह पाते हैं। जैसे-जैसे यह सामर्थ्य विकसित होता है, वैसे-वैसे वर्तमान में जीने का सामर्थ्य बढ़ता जाता है। भूत और भविष्य में जाने का अभिप्राय अपने से दूर जाना है। वर्तमान में जीना ही अपने आपके साथ रहना है। जो व्यक्ति भूत व भविष्य के ग्लानि व चिन्ता से रहित हो जाता है, उसमें यह उपरति का गुण सहज ही आने लगता है।

४. तितिक्षा : चौथा गुण बताते हैं तितिक्षा। तितिक्षा का अभिप्राय होता है - सहनं सर्वदुःखानां अप्रतीकारपूर्वकम्। जीवन में हमारे व्यक्तित्व के विभिन्न स्तरों पर द्वन्द्व का अनुभव होता रहता है। जो कि शीत-उष्ण, मान-अपमान, सुख-दुःख रूपा होते हैं। इन बाहरी परिवर्तन

से मन कई बार विक्षिप्त और अशान्त हो उठता है। परिस्थितियां सदैव परिवर्तनरूपा होती हैं, हम उन परिस्थितियों से भाग भी नहीं सकते हैं। ऐसे में मन में इस प्रकार के सामर्थ्य को विकसित करें कि जहां इन परिवर्तनों के मध्य में हमारे मन का समत्व बना रह सके। तितिक्षा का अर्थ सहनशीलता होता है। परिस्थितियों को बिना प्रतिक्रिया के सहन कर पाएं, यह उसके ज्ञान की प्राप्ति के लिए परं आवश्यक है। यदि उससे पीडित होकर सदैव शिकवे-शिकायत होती है अथवा मन खिन्न होता रहेगा, तो हमारी उर्जा सदैव बाहरी व्यवस्थाओं में ही व्यय होती रहेगी। हम संस्कार के वशीभूत होकर ही उन-उन विषय के बारे में निश्चय करेंगे, जो कि अप्रामाणिक और व्यक्तिसापेक्ष ही होगा। इसके लिए आवश्यक है कि हम तितिक्षा का सामर्थ्य उत्पन्न कर लें।

अपने अन्दर तितिक्षा गुण को जगाने के लिए प्रत्येक परिस्थिति के बारे में यह निश्चय हो कि यह सब परिवर्तनशील है, परिस्थिति सदैव रहने वाली नहीं है। जगत की अनित्यता का निश्चय तितिक्षा को बढ़ाता है। दूसरा प्रत्येक परिस्थिति को ईश्वर के प्रसाद रूप में स्वीकार कर सकें। तितिक्षा रूपी गुण से बाहरी व्यवस्थाओं पर की पराधीनता से कुछ हद तक मुक्ति

होने लगती है, इस प्रकार इन समस्त गुणों के समावेश से मन में मुक्ति की सुगन्ध का अनुभव होने लगता है।

५. श्रद्धा : श्रद्धा की परिभाषा देते हुए आचार्य बताते हैं कि शास्त्र और गुरुवाक्य में विश्वास होना। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन श्रद्धा से युक्त होता है। वह कहीं न कहीं विश्वास करता ही है। जहां उनके सही होने का निश्चय होता है। किन्तु यह विश्वास भावनात्मक स्तर तक ही सीमित रहता है। उसके उपर विचार नहीं किया जाता है। जब यह विश्वास बौद्धिक स्तर पर अवतरित होता है, तो श्रद्धा कहा जाता है। अर्थात् श्रद्धा बौद्धिक मूल्य है। जहां जिसके उपर विश्वास होता है, उन पर तब तक विचार होता है कि जब तक उनकी दृष्टि स्वयं की न हो जाए। अथवा उस तथ्य पर तब तक विचार किया जाता है कि जब तक उस तथ्य को स्वयं अपनी दृष्टि से देख नहीं लेते हैं। व्यावहारिक जीवन में किया गया विश्वास विचार की अपेक्षा नहीं रखता है। किन्तु अध्यात्म ज्ञान में विश्वासपूर्वक विचार। शास्त्र के प्रमाण होने की श्रद्धा होना परं आवश्यक है। जो वस्तु शब्द से परे, अपौरुषेय है, तथा जहां समस्त प्रत्यक्ष व परोक्ष आदि प्रमाण निरर्थक हो जाते हैं, उस विषय में शास्त्र ही एक मात्र प्रमाण होते हैं।

शास्त्र ही हमें अपनी पूर्णस्वरूपता का ज्ञान प्रदान करके परमात्मा की अवस्था में जगाने में समर्थ है, इतना विश्वासमात्र एक विलक्षण सुख की अनुभूति देता है। परन्तु इन शास्त्र को समझना तथा उसके ज्ञान को स्वयं प्राप्त करना एक अज्ञानी के लिए असम्भव है। अतः शास्त्र और साधक को जोड़ने वाली वह गुरुरूप कड़ी होती है कि जिन्होंने स्वयं इस तत्त्व का ज्ञान प्राप्त किया और जो उस ज्ञान की अवस्था में रम रहे हैं। वे ही शास्त्र को आधार बनाकर ज्ञान प्रदान करते हैं। अतः उन गुरु के प्रति श्रद्धा का होना परं आवश्यक है।

शास्त्र और गुरु के प्रति श्रद्धा होने पर उनके द्वारा कहे गए वचनों पर अनुकूल चिन्तन किया जाता है। यह चिन्तन तब तक किया जाना चाहिए कि जब तक वह हमारी अपनी दृष्टि न हो जाए। यदि हम शास्त्र के प्रति श्रद्धा रखते हैं तो उसका प्रमाण यह है कि हम अपनी पूर्णता के बारे में भी श्रद्धा से युक्त होते हैं, और यह श्रद्धा जीवन में बड़प्पन, उदारता, निष्कामता का अर्थात् मन के अन्दर सात्विकता का समावेश करती है। अपने बारे में पूर्णता की श्रद्धा ही पूर्णता के ज्ञान में पर्यवसित होती है, क्योंकि गीता में भगवान बताते हैं कि 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः।' जो जैसी श्रद्धा रखता है वो वैसा

ही होता है। अतः श्रद्धारूपी मूल्य होना अत्यन्त आवश्यक है।

६. समाधान : शमादि षट्क सम्पत्ति के अन्तर्गत अन्तिम मूल्य आता है - समाधान। समाधान की परिभाषा देते हुए भगवान शंकराचार्यजी बताते हैं कि चित्तस्य एकाग्रता अर्थात् चित्त को निर्धारित विषय के प्रति एकाग्र करने का सामर्थ्य। मन को इष्ट विषय में लगा पाना उसे सर्वप्रथम शम नाम से बताया था। यहां चित्त की एकाग्रता से अभिप्राय है कि पूरा अन्तःकरण समग्रता से इष्ट विषय के चिन्तन में लगाने का सामर्थ्य। साधारणतः किसी विषय के चिन्तन के समय यह अनुभव में आता है कि मानों मन की दो सतहें हैं। जहां उपरि सतह पर तो इष्ट विषय का चिन्तन हो रहा है किन्तु मन की गहराई में अन्य विषयक चिन्तन, संकल्पादि रूप चेष्टाएं चल रही है। जिस समय अन्तःकरण की गहराई तक जिसे हम उचित समझते हैं उसके संस्कार व मूल्य रोपित कर दिया जाएं तो वहां समग्रता से अन्तःकरण की दो महत्वपूर्ण क्षमता होती है जिसे मन और बुद्धि नाम से जाना जाता है - चह लग पाता है। मन अन्तःकरण का भावनात्मक पहलू है तथा बुद्धि निश्चयात्मक पहलू हैं। जिस समय बुद्धि में जिस

विषयक औचित्य का निश्चय है, और उसी के प्रति मन की भावना भी समर्पित है तो उस समन्वित अन्त:करण को समाधान युक्त अन्त:करण कहा जाता है। मन के विक्षेप के पीछे कारण ही मन व बुद्धि के समन्वय का अभाव होता है, एवं समाधानयुक्त अन्त:करण ज्ञान के लिए परं आवश्यक है।

इस प्रकार शान्ति आदि गुणों से शम आदि छह सम्पत्ति का अपने अन्त:करण में समावेश ही ज्ञान को प्राप्त करके आत्मसात करने का हेतु बनता है।

सूत्र : १२

।। दृढ़तरं कर्माशु सन्त्यज्यताम्।।

कर्मों को शीघ्र और दृढ़तापूर्वक त्यागें।

शान्ति आदि गुणों के समावेश का महत्व दिखाया गया। इन गुणों से युक्त होने पर मन में अन्तर्मुखता होने लगती है। मन की विचारशीलता बढती जाती है। ऐसे साधक में कुछ हद तक स्वतंत्रता का अनुभव होने लगता है अर्थात् परिस्थिति में आदतवशात बहने के प्रति अंकुश लगने लगता है। किसी तथ्य पर गहराई से विचार करने का सामर्थ्य प्राप्त होने लगता है।

उनके लिए आगे का सोपान आचार्य बताते हैं कि, कर्म का दृढ़तापूर्वक त्याग करें। प्रारम्भ में आचार्य ने कर्म के सन्दर्भ में विधान किया था कि वेदों के द्वारा प्रतिपादित कर्म के द्वारा ईश्वर की आराधना करें, और अब बता रहे हैं कि कर्म का दृढतापूर्वक त्याग करें। वस्तुतः कर्म के दो पहलू होते हैं। एक सकारामक व दूसरा नकारात्मक। सकारात्मक पहलू वह है कि कर्म को उचित तरीके व निष्काम भावना के साथ किया जाए तो वह चित्तशुद्धि का कारण बनता है। ऐसा शुद्ध चित्त

ही शम आदि गुणों से युक्त होता है। परमात्मा के साक्षात्कार हेतु वह ही पात्र होता है। कर्म के क्षेत्र में रहते हुए ऐसे शुद्धचित्त की प्राप्ति होना ही सब से महान उपलब्धि है। कर्म के क्षेत्र के चार प्रयोजन होते हैं। किसी चीज को उत्पन्न करना, संस्कारित करना, विकृति लाना और जो अपने से पृथक की प्राप्ति कराना। यह ही कर्म के सकारात्मक पहलू है।

कर्म का यह दोष है कि कर्म से जो कुछ भी प्राप्त होता है वह नश्वर होता है, अपने से पृथक् होता है तथा उसमें अपने आपको कर्ता समझने के उपरान्त ही प्रवृत्ति होती है। कर्म में सदैव कुछ करने की मनोवृत्ति विद्यमान होती है। जिसमें अपने आपको कर्ता समझकर तथा अपने से पृथक् किसी के अस्तित्व को स्वीकार करके ही प्रवृत्ति होती है। हम जिस सत्य को जानना चाहते हैं, वह परमात्मा शाश्वत तथा हमारी आत्मा की तरह से विद्यमान है, अतः कर्म से प्राप्त नहीं हो सकते हैं। अपने स्वस्वरूप के अज्ञान की वजह से ही स्वयं के बारे में सीमित कर्ता भोक्ता जीव की अस्मिता रखी हुई है। यह कर्ता जो कि अज्ञान के कार्य रूप है, वह अज्ञान को कैसे समाप्त करने में समर्थ हो सकता है? इसके अलावा कर्म में पूरी उर्जा अपने से पृथक् किसी

विषय पर केन्द्रित होती है। यह तत्त्वज्ञान के लिए विरोधी है। परमात्मा इसी समय हमारी आत्मा की तरह से विद्यमान हैं। हमें इसी समय विद्यमान सत्य को देखना है। उसके लिए शान्त व अन्तर्मुख मन से इसी कर्ता के उपर विचार करना होता है, जब कि कर्म में हमें अपने से पृथक बाहर देखने की अपेक्षा होती है। यह मनोवृत्ति बाहर के विषयों के प्रति महत्व बढाती है। कर्म चाहे अच्छा हो वा बुरा किन्तु ऐसी कुछ न कुछ करने रूप कर्म की मनोवृत्ति हमारी काल्पनिक अस्मिता में सत्यता की बुद्धि को दृढ़ करती है।

आचार्य बता रहे हैं कि कर्म के दोष को अच्छी तरह समझ कर कुछ न कुछ करने की मनोवृत्ति को त्यागकर इसी कर्ता के स्वरूप पर विचार करें। उसके सत्य को जानने के लिए अब कर्म को महत्व प्रदान करना बन्द करें। अपने उपर से कर्तृत्व का निषेध कर सत्य को जानने के रहस्य के बारे में जानने की प्रवृत्ति हो। यह ही कर्म के प्रति कर्तव्यता का दृढ़ता से शीघ्र त्याग करने का अभिप्राय है।

सूत्र : १३

।। सद्विद्वानुपसर्प्यताम् ।।

गुरु उपसदन करें।

पूर्व सूत्र में बताया कि कर्म का दृढ़तापूर्वक त्याग करो अर्थात् कर्म की मर्यादा को जानते हुए उसको महत्वविहीन करें और अब करने की मनोवृत्ति को त्याग कर जो करनेवाला कर्ता-भोक्ता जीव है उसके रहस्य को जानें।

मुण्डक उपनिषद् बताता है कि जिस समय कोई मनुष्य कर्म-जनित उपलब्धियों की परिच्छिन्नता देख कर उनसे वैराग्य को प्राप्त हो जाता है, तब उसे विनम्रता के साथ किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा के पास जाकर ब्रह्मविद्या की प्राप्ति हेतु निवेदन करना चाहिए। शास्त्र का यह उद्घोष है कि मनुष्य स्वभाव से ही पूर्ण है। उनमें किसी भी प्रकार की परिच्छिन्नता का लेश-मात्र भी नहीं है, वो साक्षात् ब्रह्म है। किन्तु आज उसे अपनी सत्यता का ज्ञान नहीं है। आत्मा के इस अज्ञान से अनेको भ्रान्तियां जन्म लेती है, जिससे कि मनुष्य स्वयं

को अपूर्ण, संसारी एवं दुःखी मानने लगता है। ईश्वर को अपने से भिन्न तथा जगत् को अपने सुख-दुःख का कारण मान लेता है। इस अज्ञान को दूर करके आत्मा का यथार्थ ज्ञान कराने वाले गुरु ही होते हैं।

गुरु भी शिल्पकार की तरह से अपने पास आए शिष्य में से अज्ञान एवं मोहादि अनावश्यक अध्यस्त परतों को केवल निकाल कर शिष्य की ब्रह्मस्वरूपता को मानो आविर्भूत कर देते हैं। श्रुति, युक्ति और अनुभूति के आधार पर उपदेश करके शिष्य की समस्त अज्ञानवशात् उत्पन्न की हुई समस्त धारणाओं को दूर करते हैं। जिस समय गुरु उपदेश से समस्त अध्यारोपों का अपवाद करते हुए सत्य का उद्घाटन होता है तो मानो शिष्य का नया जन्म हो जाता है। वहां जीवत्व की समस्त मलिनताओ और बन्धनों से मुक्ति हो जाती है, और पूर्णता का प्रागट्य हो जाता है, अर्थात परमात्म स्वरूप अनावृत्त हो जाता है। परमात्मा का ज्ञान स्वयं परमात्मा ही दे सकते हैं। यह कार्य जीव स्वतः नहीं कर सकता है। परमात्मा अनुपम एवं अकल्पनीय है। यद्यपि हमारे शब्द आदि समस्त उपलब्ध साधन सीमित हैं, तथापि हमारे पास इन साधनों के प्रयोग के अलावा और कोई विकल्प नही है। गुरु शास्त्रों के शब्दों का अत्यंत

सुन्दरता से प्रयोग कर हमें शब्दातीत तत्व दिखा भी देते हैं। किसी भी वस्तु का यथार्थ ज्ञान तब ही प्राप्त होता है जब उसके बारे में कल्पनाएं समाप्त हो जाती है। अपना ज्ञान भी तब ही प्राप्त होता है जब अपने बारे में कल्पनाएं एवं अभिमान समाप्त हो जाते है। गुरु के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करने से अभिमानादि शिथिल होने लगता है, अतः हमें किसी ज्ञानवान के पास जाकर उनके प्रति समर्पित होकर ज्ञान की प्राप्ति का द्वार खोल देना चाहिए। उनके प्रति समर्पण से ही हमारे जीवभाव के बाधित होने की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है।

जहां भक्तिसभर श्रीगुरु की सेवा होती है वहां गुरु-शिष्य के मन के तार जुड़ जाते हैं। सेवा एक ऐसा माध्यम है जिससे अपने मन की समस्त भावनाओं को मूर्त रूप देकर अपनी भक्ति को ओर बढ़ा पाते हैं। गुरु की सन्निधि के कारण अनेकों प्रेरणास्पद बातें सीखते जाते है। इतना ही नहीं, किन्तु सेवा के समय हमारे मन में छिपे रागादि विकारों को प्रगट होने का मौका मिलता है, एवं गुरु के सामने हमारी यथास्थिति का प्रागट्य हो जाता है। शिष्य के खुलेपन तथा आत्मीयता के कारण एक संवाद आरम्भ होता है, एवं गुरु उपसदन को आचार्य श्री ने एक सोपान की तरह बताया।

सूत्र : १४

।। प्रतिदिनं तत्पादुका सेव्यताम्।।

प्रतिदिन गुरु की सेवा करें।

पूर्व सूत्र में बताया कि ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए गुरु उपसदन करना चाहिए। अब यहां पर गुरु की सेवा का महत्व बताते है।

गुरु के प्रति शरणागति ही शिष्य में ज्ञान उत्पन्न कराती है। गुरु के पास जाना मात्र ही पर्याप्त नहीं होता। वहां जाकर गुरु की सेवा की जानी चाहिए। यहां आचार्य गुरु की चरणसेवा करने का विधान देते हैं। गुरु के प्रति भक्ति और श्रद्धा के अभाव में ज्ञान असम्भव होता है। गुरु की चरणसेवा उनके प्रति श्रद्धा और भक्ति की अभिव्यक्ति रूपा होती है, साथ ही मन को शुद्ध, सात्वि, निरभिमानी करके ज्ञान के लिए पात्रता भी उत्पन्न करती है।

गुरु स्वयं ज्ञानस्वरूप हैं। उन ज्ञान की महानता को प्राप्त करने के लिए आश्रय चरण ही होते हैं। सेवा

करने के द्वारा भी अभिमान आदि की शिथिलता होने लगती है। सेवा में व्यक्ति अपने स्वार्थ को छोड़कर अन्य की दृष्टि से देखने में समर्थ हो पाता है। परिणामस्वरूप निष्कामता व नि:स्वार्थता जगती है। यह ही ज्ञान के लिए सात्विकता रूपी पात्रता जगाता है।

किसी की भी सेवा तब हो पाती है, जब अपनी अल्पता व अज्ञान की विनम्रता हो। सेवा करने के लिए अपने समस्त अभिमान को किनारे करने पड़ते है। इससे साधक की ज्ञान के प्रति गम्भीरता तथा गुरु के प्रति श्रद्धा और भक्ति का परिचय प्राप्त होता है। गुरु से ज्ञान की प्राप्ति किसी प्रकार से आग्रहपूर्वक नहीं हो सकती, क्योंकि गुरु स्वयं इस पूर्णता के ज्ञान में रम रहे हैं। उन्हें किसी प्रकार की आवश्यकता नहीं होती है। किन्तु यह गुरु की प्रसन्नता और शिष्य के प्रति करुणा की अभिव्यक्ति रूपा होती है। निरभिमानता ही गुरु के निकट ले जाती है और प्रसन्नता की अभिव्यक्ति हो पाती है। आत्मज्ञान जीव के प्रयास का फल नहीं होता है। जीव के द्वारा किए गए प्रयास जीवभाव में और भी निष्ठा उत्पन्न करवाता है। गुरु के प्रति समर्पण जीवभाव को बाधित करने में निमित्त बनता है। गुरु के कृपाप्रसाद से ही ज्ञान के द्वार खुल पाते हैं।

उपनिषद् बताता हैं कि जिसमें देवता के प्रति जैसी परं भक्ति है, वैसी भक्ति जब गुरु के प्रति होती हैं, तो उनके लिए मानो श्रुति सवयं ही अपना अर्थ खोलने लगती हैं। गुरु के प्रति श्रद्धा ही उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञान के श्रवण के लिए उपलब्धता प्रदान करती हैं। श्रवण के लिए गुरुमुख से निःसृत शास्त्रवचन को खुले मन से सुनकर उसे हृदयंगम किये जाते है। एवं श्रवण की सार्थकता मात्र गुरु के प्रति श्रद्धा से ही सम्भव हो पाती है। इसलिए गुरु की सेवा का अत्यन्त महत्व बताया गया हैं।

सूत्र : १५

।। ब्रह्मैकाक्षरमर्थ्यताम् ।।

एक अक्षर तत्व ब्रह्मज्ञान के लिए प्रार्थना करें।

पूर्व सूत्र में गुरु की सेवा का महत्व दिखाया। श्रद्धा से युक्त होकर गुरु की सेवा करनी चाहिए। गुरु की सेवा ही शिष्य में समर्पण को द्योतित करती है। जिसमें श्रद्धा व समर्पण होता है तथा अज्ञान की विनम्रता होती है, वहीं पर ज्ञान के लिए उपलब्धता हो पाती है तथा फलस्वरूप ज्ञान होता है।

ऐसा साधक जिसने जीवन को तटस्थता से साक्षात देखा है, जिसका मन शान्त और सूक्ष्म है, उनको यह बात जब समझ में आ गई कि हमारा बन्धन अनुभूतियों का अभाव नहीं है किन्तु अज्ञानवशात् अपने बारे में क्षुद्रता की कल्पना ही है, और इसीके परिणामस्वरूप पूर्णता की प्राप्ति हेतु विविध अनुभूतियों की आवश्यकता प्रतीत होती है। हमने अपने बारे में कुछ गलत कल्पना उत्पन्न की है, और उस कल्पना के धरातल पर ही कुछ न कुछ व्यवस्था करने को प्रेरित है। हमारा बन्धन केवल अज्ञान की वजह से ही स्वकल्पित है, उसका

मुमुक्षुत्व अब जिज्ञासा में परिणत हो जाता है। उसकी समस्त प्रवृत्तियाँ तत्त्व को जानने मात्र के लिए होती है। वह एक अज्ञान की विनम्रता से युक्त होकर गुरु के पास गया है। तो गुरु से उनकी प्रार्थना का क्या स्वरूप होना चाहिए, उसे यहां आचार्य बताते हैं।

उस शिष्य को अपनी जिज्ञासा की निवृत्ति के लिये ब्रह्म को ही जानना चाहिये। ब्रह्म अर्थात् शाश्वत सत्य - जिसमें कोई देश, काल और वस्तु की सीमाएं नहीं है, अर्थात् जो पूर्ण तत्त्व है। श्रुति इस तथ्य का प्रतिपादन करती है कि 'तत्त्वमसि' अर्थात् 'तुम ही वह पूर्णतत्त्व हो, जिसकी प्राप्ति की तुम्हें इच्छा है'। क्योंकि पूर्ण को पूर्ण होने के लिये हमसे अभिन्न होना ही चाहिये। यदि पूर्णतत्त्व हमसे अभिन्न अर्थात् हमारा ही स्वरूप है, और अज्ञान के कारण ही अपूर्णता की कल्पना की हुई है तो पूर्णता की अवस्था में जगने के लिये आवश्यकता है ब्रह्म को अपनी आत्मा की तरह जानने मात्र की, न कि किसी कर्म विशेष से नए अनुभव प्राप्त करने की। ब्रह्मज्ञान पर ही मोक्षरूपी परं पुरुषार्थ की सिद्धि निर्भर करती है। यह ब्रह्म एक है, अर्थात् वह ही सत्य है। बाकी समस्त कल्पना का विलास मात्र है। वह ही अक्षर तत्त्व है, शाश्वत व अविनाशी है। ऐसे तत्त्व को जानने

पर ही मोक्ष रूपी परं पुरुषार्थ की सिद्धि हो पाती है।

गुरु ज्ञानवान है, वे इस रहस्य को न केवल जानते हैं किन्तु उसे बताने में भी समर्थ हैं। शब्द से परे शब्दातीत तत्त्व को शब्दों के माध्यम से बताना तथा उसका ज्ञान उत्पन्न करवा देना यह मात्र गुरु की करुणा का ही प्रसाद हो सकता है। अतः उनसे अत्यन्त विनम्रतापूर्वक इस तत्त्वज्ञान विषयक ही प्रार्थना करनी चाहिए। हमारी प्रार्थना ही अपने संकल्प को द्योतित करती है। ज्ञान का संकल्प होने पर ही गुरु प्रसन्नतापूर्वक ज्ञान देने हेतु प्रवृत्त होते हैं।

सूत्र : १६

।। श्रुतिशिरोवाक्य समाकर्ण्यताम् ।।

उपनिषद् वाक्य का अच्छी तरह श्रवण करें।

पूर्व सूत्र में गुरुसेवा आदि का महत्व बताया गया था तथा गुरु से ब्रह्मज्ञान विषयक प्रार्थना की जानी चाहिए यह बताया। अब आगे के सोपान में गुरु के श्रीचरणों में बैठकर शास्त्र का श्रवण करने का विधान किया जा रहा है। श्रुति का अर्थ होता है वेद तथा श्रुतिशिरः अर्थात् वेदान्त। जहां समस्त शास्त्रों की प्रवृत्ति जिस तत्त्व के प्रतिपादन के लिए होती है, उसके बारे में अर्थात् आत्मा का अपनी ब्रह्मस्वरूपता की तरह ज्ञान दिया गया है। उपनिषद् के तात्पर्य का निश्चय अर्थात् वेदों की प्रवृत्ति जिस अर्थ को दीखाने के लिए होती है, उसका संशय रहित स्पष्टतापूर्वक निर्णय हो जाना। उपनिषद् में दो प्रकार के वाक्य होते है - १. महावाक्य २. अवान्तर वाक्य। महावाक्य वो होते है जिसके माध्यम से अखण्डता का बोध होता है। अर्थात् जीव और ईश्वर के अभेद का प्रतिपादन होता है। तथा अवान्तर वाक्य उस अर्थ को समझने में जो सहायक

होते है। गुरु शिष्य के प्रति इस ज्ञान को प्रकाशित करते हैं। शिष्य का कर्तव्य श्रद्धापूर्वक श्रवण करना होता है।

ब्रह्मज्ञान श्रवण से ही होता है। किन्तु श्रवण करना एक अद्भूत कला होती है। श्रवण का अर्थ मात्र सुनना ही नहीं है। श्रवण का अर्थ शास्त्र प्रतिपादित अर्थ का तात्पर्य निश्चय करना है। इसके लिए मन में एक विशेष प्रकार की पात्रता का समावेश होना आपेक्षित है। श्रवण के समय अपनी समस्त धारणाओं को, ज्ञान व अज्ञान के समस्त अभिमान को किनारे करके एक विनम्र जिज्ञासु बन कर खुले मन से सुनना होता है। ऐसे मन के वातावरण में ही श्रवण सम्पन्न होता है। शिष्य जब अपनी मान्यताओं और संस्कार पर आधारित किसी दृष्टि से तादात्म्य से युक्त नहीं है तथा व्यासपीठ पर आसीन गुरु किसी तथ्य को देख कर उसका प्रतिपादन कर रहे है, उनके साथ दृष्टि के तादाम्य की वजह से उनके द्वारा दीखाये जा रहे अर्थ को देखने में सक्षम हो पाता है। यह ही श्रवण होता है। इस प्रकार की दृष्टि के लिए गुरु के प्रति श्रद्धा व भक्तिपूर्वक समर्पण होना आवश्यक है। तब ही श्रवण में पूर्णरूप से उपलब्धता हो पाती है। जब ऐसे श्रवण करके श्रुति के द्वारा प्रतिपादित अर्थ को निश्चयपूर्वक देख लिया जाता है। शास्त्र

प्रतिपादित दृष्टि जब स्वयं की हो जाती है, तब श्रवण सम्पन्न हुआ कहा जाता है। एवं गुरु के चरणों में श्रद्धा और विनम्रता से युक्त होकर श्रवण करना अत्यन्त आवश्यक है। श्रवण से ही अज्ञान की निवृत्ति होती है।

अतः अपने मन की समस्त धारणाएं, संस्कार आदि सब पर प्रश्नचिह्न लगाए, खुले मन से पूर्ण उपलब्धता के साथ, विनम्रता से युक्त होकर वेदान्त का श्रवण करने पर ही वह फलित होता है। और तत्त्वविषयक चेतना जगती है।

सूत्र : १७

।। वाक्यार्थश्च विचार्यताम् ।।

उपनिषद् वाक्य के अर्थ पर विचार करें।

पूर्व सूत्र में गुरु के श्रीचरणों में बैठ़कर शास्त्र का श्रवण करने का विधान किया गया। जब शास्त्र प्रतिपादित दृष्टि का वास्तविक आशय समझ में आ जाता है, तब श्रवण सम्पन्न हुआ कहा जाता है। गुरु के चरणों में श्रद्धा व विनम्रतापूर्वक बैठकर श्रवण करने से ही यह तात्पर्य निश्चय सम्भव होता है। अब यहां आचार्य अगला सोपान बताते हैं कि श्रवण के बाद महत्वपूर्ण साधना होती है - मनन। आचार्य बता रहे हैं कि वाक्य के अर्थ पर विचार करें।

जैसे पूर्व सोपान में देखा कि श्रवणकाल में ही ज्ञानवृत्ति जगती है। किन्तु जिस समय ज्ञान असंदिग्ध व अबाधित होता है, तब ही वह ज्ञान स्थिर रह पाता है। अन्यथा पुनः ज्ञान से च्युति होकर जीवभाव में बहकर संसारित्व से युक्त होने लगते हैं। श्रवणकाल में जिसे शास्त्र प्रमाण से व गुरुवाक्य से यह निश्चय हो गया कि हम ही ब्रह्म है, किन्तु यह जिस समय अपने आपके साथ बैठकर इस अर्थ को देखना चाहते हैं तो

उसमें कठिनाई महसूस होती है। यह शास्त्रोक्त ज्ञान और आज के हमारे अनुभूतिजन्य ज्ञान में विरोधाभास प्रतीत होता है, जिसकी वजह से ज्ञान स्थिर नहीं हो पाता है। बुद्धि में अनेकों संशय आते है। इसके लिए आचार्य बता रहे हैं कि श्रवणकाल में जिस वाक्य का अर्थ देखा था, उसके उपर तब तक विचार करें जब तक किसी भी प्रकार के संशयों का स्थान न बचे।

वाक्य से अभिप्राय महावाक्य है। महावाक्य वो होता है जो अखण्डता के अर्थ का अर्थात् जीव-ईश्वर के ऐक्य का बोध कराता है। अपने जीवत्व के बारे में आज की अनुभूति और निश्चय यह है कि हम कर्ता-भोक्ता जीव है, हम देशादि की सीमाओं से सीमित हैं, हमें अपने सामर्थ्यों की सीमा का भी एहसास है। अपने अन्दर अपूर्णता का एहसास हो रहा है, जिसके कारण बन्धन का अनुभव हो रहा है, तथा ईश्वर जो कि एक महान सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी तथा सर्वज्ञ हैं। हम कर्ता-भोक्ता जीव है, वे कर्मफल प्रदाता हैं। यह प्रत्यक्ष विरोध का सतत अनुभव हो रहा है। इन विरोधों के बावजूद शास्त्र महावाक्य के उपदेश द्वारा बता रहे हैं कि दोनों में मूलरूप से कोई भेद नहीं है। अतः आवश्यकता है कि दोनों में जिस स्तर पर भेद का अनुभव हो रहा है, उसके उपर विचार करते हुए उस

स्तर को त्यागा जाए। इसके लिए मनीषियों ने भिन्न भिन्न लक्षणा के आधार पर विचार करने का तरीका बताया कि किसी वाक्य का अर्थ यदि प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट नहीं है तो जहद्, अजहद् व भागत्याग लक्षणा का आश्रय लेकर विचार करना चाहिए। इन तीनों लक्षणाओं में से जिस भी लक्षणा से अर्थ सिद्ध हो रहा हो, उसे अपनाया जाना चाहिए। महावाक्य का अर्थ भागत्याग लक्षणा से ही सम्भव हो सकता है। इस लक्षणा का आश्रय लेकर विचार किया जाना चाहिए। तब तक विचार किया जाना चाहिए जब तक समस्त संशय की समाप्ति होकर अखण्डता का अर्थ न दीख जाए। इसे ही मनन कहते हैं। इस मनन के अन्तर्गत के ही दो पहलुओं को आचार्य आगे के दो सूत्रों में बताएंगे।

सूत्र : १८

।। श्रुतिशिरः पक्षः समाश्रीयताम् ।।

वेदान्त के पक्ष का ही आश्रय लें।

पूर्व सूत्र में गुरु के श्री चरणों में बैठ़कर शास्त्र का श्रवण करने का विधान किया गया। जब शास्त्र प्रतिपादित दृष्टि का वास्तविक आशय समझ में आ जाता है, तब श्रवण सम्पन्न हुआ कहा जाता है। गुरु के चरणों में श्रद्धा व विनम्रतापूर्वक बैठकर श्रवण करने से ही यह तात्पर्य निश्चय सम्भव होता है। श्रवण के बाद महत्वपूर्ण साधना होती है - मनन। आचार्य ने बताया कि वाक्य के अर्थ पर विचार करें।

उस सन्दर्भ में देखा कि ज्ञान को संशयरहित बनाने हेतु उस पर मनन करना परं आवश्यक होता है। मनन का तरीका बताते हुए यहां आचार्य बताते हैं कि वेदान्त के ही पक्ष का आश्रय लेकर मनन करना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि श्रुति ने जिन महावाक्य के द्वारा जीव और ईश्वर के ऐक्य को प्रतिपादित किया है, उसके तात्पर्य को समझना चाहिए। इसके अर्थ को श्रुति के द्वारा इष्ट लक्षणा का प्रयोग करके ही समझना चाहिए

तथा उसके लिए उसी दिशा में विचार किया जाना चाहिए। श्रुति न केवल जीव और ईश्वर के ऐक्य का प्रतिपादन करती हैं, किन्तु उस एकत्व को एक अद्वय, अखण्ड सत्ता बताती हैं।

अतः महावाक्य के उपर विचार करने के समय यदि जहद् लक्षणा का आश्रय लेते हैं तो उससे शून्यता में जाग्रति होती है। शून्यता श्रुति के द्वारा इष्ट नहीं है। क्योंकि श्रुति जिस तत्त्व को दीखा रही है, वह अत्यन्त जीवन्त, आनन्दस्वरूप है। शून्यता में शुष्कता की अनुभूति है।

दूसरी ओर अजहद् लक्षणा का आश्रय लेते है कि जहां जीव को यथावत् बनाए रखकर, उसमें से कुछ भी त्यागे बगैर उस पर ईश्वर की कल्पना करते है। इससे जीव की संकुचिता की समाप्ति नहीं होती है। किन्तु पूर्व से ही की गई कल्पना में एक और कल्पना को जोड़ते है। यह अखण्डता का लक्षण नहीं है।

श्रुति के पक्ष का आश्रय लेकर विचार करने का अभिप्राय जिससे भी एक अद्वय, अखण्ड ब्रह्म की सिद्धि होती हो, वह है। अर्थात् भागत्याग लक्षणा का आश्रय

लेकर विचार करे। जहां विरोधी अंश को त्यागते हुए उसे मायामय, मिथ्या जानते है। विरोधी अंश का निषेध होने पर जो भी शेष है, वह ही अखण्ड तत्त्व है। उसमें जाग्रति ही मुक्ति का हेतु है। जिस प्रकार लहर और समुद्र के एकत्व को देखने के लिए लहर का लहरत्व और समुद्र का समुद्रत्व त्यागा जाता है, तब जो भी शेष रहता है, वह दोनों का सत्य एक जलतत्व है। जिसमें समुद्रादि समस्त भेदों की समाप्ति है। उसी प्रकार भागत्याग लक्षणा के माध्यम से श्रुति के द्वारा इष्ट अर्थ को समझना चाहिए।

सूत्र : १९

।। दुस्तर्कात्सुविरम्यताम् ।।

कुतर्क का सर्वथा त्याग करें।

श्रुति बताती है कि 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः निदिध्यासितव्यः।' अर्थात् आत्मा का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। यह तीनों आत्मज्ञान के लिए साधन है।

पूर्व सूत्रों में श्रवण तथा तत्पश्चात् मनन के एक पहलू को देखा कि महावाक्य के विविध पहलुओं के उपर गहराई-पूर्वक विचार करें। इस विचार के अन्तर्गत बुद्धि की सूक्ष्मता की अपेक्षा होती है। बुद्धि के अन्तर्गत के संशयों को विचारपूर्वक तर्क व दृष्टान्त से बाधित करते हुए शान्त किया जा सकता है। इसके लिए बुद्धि के पास तर्क का अद्भुत सामर्थ्य होता है, यदि इसका सही प्रयोग करने से समस्त संशयों की समाप्ति हो सकती है। किन्तु इसका नकारात्मक प्रयोग लक्ष्य के प्रति श्रद्धा को खण्डित करते हुए लक्ष्य से भी च्युत कर सकता है। अतः आचार्य इसके बारे में यहां सजग कर रहे हैं।

बुद्धि में पूर्व संस्कार, आग्रह एवं दुराग्रह की वजह से

ही अनेकों संशय उठते हैं। इसका निराकरण करने हेतु लिए गुरु के श्रीचरणों में बैठकर उनके साथ संवाद स्थापित किया जाना चाहिए। वैसे तो दो लोगों के मध्य की चर्चा के अनेकों रूप होते है, जिसमें जल्प, वितण्ड, वाद और संवाद प्रचलिए है। जल्प का अर्थ होता है - बड़बड़ाना। इसमें व्यक्ति सामने के पक्ष की कुछ भी सुने बगैर अपनी ही बातों को सत्य सिद्ध करने का प्रयास करता है। जल्पता में व्यक्ति का अभिमान, अपने विचारों व मान्यताओं के प्रति दुराग्रह दर्शाता है। वहां खुले मन का अभाव तथा दूसरे की अस्वीकृति होती है। दूसरा होता है वितण्ड - इसमें व्यक्ति का अपना कोई विशेष सिद्धान्त नहीं है, मान्यता है तो बस वह कि प्रतिपक्षी जो भी कहता है वह गलत है। अतः सदैव उसकी बात को गलत सिद्ध करने का प्रयास होता है। यह व्यक्ति के मिथ्या अभिमान और दम्भ का ही सूचक होता है। स्वयं में कुछ भी समझ नहीं होते हुए भी अन्य को गलत सिद्ध करने के द्वारा झूठी अहं की संतुष्टि की जाती है। इन दोनों में व्यक्ति में किसी प्रकार की सीखने की वृत्ति नहीं होती है। इससे न तो नया ज्ञान उपलब्ध होता है, और न ही संशयों का निराकरण होता है।

वाद और संवाद इससे कुछ भिन्न के होते हैं। वाद में दोनों ही पक्ष समान धरातल पर होते हैं। दोनों ही खुले मन से चर्चा भी करते हैं। अन्योन्य आदर की भावना होती है, किन्तु पूर्ण निरभिमानता नहीं होती है। वाद में जानकारी तो बहुत प्राप्त हो सकती है, इससे बौद्धिक सन्तुष्टि भी होती है, किन्तु यह अहं की सन्तुष्टि के लिए एक निमित्त मात्र ही बन जाता है। अहंकार की दीवार का भेदन कर सच्चाई में जगना सम्भव नहीं होता, फिर भले कितने भी ज्ञानवान के मुख से निकले हुए वचन क्यों न हों! वहां ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न नहीं होता है। शास्त्र और आचार्यगण ज्ञान की अवस्था में जगने के लिए विवेक - वैराग्य आदि रूप एक विशेष पात्रता की आवश्यकता बताते हैं। वैराग्य का अभाव हो तो वहां मनुष्य जीवभाव से परे जाना नहीं चाहता। जीव के स्तर पर ही विविध प्रकार की व्यवस्था बनाएं रखने के द्वारा अहंकार को ही पुष्ट करना चाहता है। इसके अन्तर्गत वाद के माध्यम से बौद्धिक संतुष्टि का भी समावेश होता है। यदि कुछ मात्रा में वैराग्य हो भी, लेकिन श्रद्धा की कमी हो तो भी वहां खुले मन का अभाव हो जाता है। वह अपनी मान्यताएं को किनारे करके श्रवण के लिए उपलब्ध नहीं हो पाता है। यह मात्र बुद्धि अपने तर्कविशेष के सामर्थ्य का आश्रय लेकर ही

अहं की संतुष्टि के लिए प्रेरित रहती है। जिसका परिणाम न कोई संशय का समाधान होता है, और नहीं कहीं पर गति है। साधक अवस्था में अर्थात् जब तक ज्ञान की स्पष्टता होकर उसमें निष्ठा नहीं हो जाती है तब तक उनसे दूर रहना चाहिए।

वैसे तो वाद शास्त्रार्थ का एक प्रकार होता है। जिसमें दोनों खुले मन से उपलब्ध होकर जो पक्ष सत्य हो उसे स्वीकार करने के लिए भी बिना संकोच और अभिमन के उपलब्ध होता है। भगवद्पाद शंकराचार्य और मण्डनमिश्रजी का शास्त्रार्थ उसका अद्भुत, अतुलनीय उदाहरण है।

किन्तु आचार्य यहां साधक की बुद्धि के इस सामर्थ्य के दुष्प्रयोग की सम्भावना के प्रति सजग करते हुए कुस्तर्क से दूर ही रहने का विधान कर रहे हैं। कैसा तर्क कल्याणकारी होता है यह अगले सूत्र में बताते हैं।

सूत्र : २०

।। श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम् ।।

श्रुति के अनुकुल चिन्तन करें।

आचार्य ने दुस्तर्क को विराम देने की सलाह दी थी, अब यहां बता रहे हैं कि श्रुति के अनुकुल चिन्तन करें।

बुद्धि में तर्क और वितर्क तब तक चलते रहते है, जब तक उनमें संशय विद्यमान हो। किन्तु जहां संशय की समाप्ति हो गई फिर बुद्धि की भी चेष्टा समाप्त हो जाती है। कठोपनिषद् बताता है कि 'बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्' बुद्धि भी उपराम को प्राप्त कर जाती है। जब तक ज्ञान में निष्ठा नहीं होती तब तक ही बुद्धि की चेष्टाएं चलती रहती है।

ऐसे में तर्क के दोनों प्रयोग हो सकते है, लक्ष्य के अनुकुल वा प्रतिकुल। दुस्तर्क अर्थात् प्रतिकुल चिन्तन की कोई अन्त व स्थिति नहीं होती है। यदि तर्क की सीमा व प्रयोजन के बारे में साधक को स्पष्टता न हो तो तर्क पतन की ओर ले जाने वाला होता है। तर्क

बौद्धिक आनन्द तथा अहं की संतुष्टि के लिए नहीं होना चाहिए। अपितु तर्क का प्रयोजन मात्र बुद्धि के संशय को शान्त करने हेतु ही होता है। इसके लिए श्रुति का आश्रय लेना चाहिए। श्रुति स्वयं भी भिन्न भिन्न दृष्टान्तों के माध्यम से, तर्क का प्रयोग करते हुए अनेकों संशयों का समाधान करती है। जैसे कि छान्दोग्य उपनिषद् में तत्त्वमसि महावाक्य का नौ बार उपदेश किया गया। इस महावाक्य के अर्थ को समझाने हेतु अनेकों दृष्टान्त और तर्क का आश्रय लिया गया। उसी प्रकार से अनेकों उपनिषदों में, तथा उसीमें अनेकों दृष्टान्त प्राप्त होते है। इन श्रुति सिद्धान्त की पुष्टि करनेवाले तर्क व दृष्टान्त का ही आश्रय लेना चाहिए।

साधारणतः तर्क प्रतिकुल तब होता है कि जब बुद्धि में पूर्व निर्धारित विपरीत निश्चय होता है। परन्तु जिस समय श्रुति के उपर पूर्ण श्रद्धा होती है, तथा उस सिद्धान्त को मन में स्थापित करने के उपरान्त विचार आरम्भ होता है, तो वह श्रुति के अनुकुल ही हो जाता है। अतः श्रुति के उपर पूर्ण श्रद्धा से युक्त होकर तथा तर्क की मर्यादा के ज्ञान से युक्त होकर फिर विचार करें। तब तक विचार करें जब तक बुद्धि उपरामता को प्राप्त न हो जाएं।

सूत्र : २१

।। ब्रह्मैवास्मि विभाव्यताम् ।।

हम ही ब्रह्म हैं, यह भावना दृढ़ करें।

पूर्व सूत्रों में आचार्य ने श्रुति के अनुकूल तर्क का आश्रय लेकर तथा कुस्तर्क को त्यागते हुए आत्मचिन्तन और मनन का विधान किया था। ज्ञान असंदिग्ध व अबाधित होना चाहिए। मनन के परिणाम स्वरूप मन के समस्त संशयों की समाप्ति होकर ज्ञान असंदिग्ध हो जाता है। यह ही मनन का प्रसाद है। अब इस ज्ञान के अबाधित होने पर अर्थात् ज्ञान में निष्ठा के लिए ज्ञान के साधनरूप निदिध्यासन का विधान कर रहे हैं।

हम ब्रह्म है, इसकी तीव्र भावना से युक्त होने को आचार्य बता रहे हैं। ज्ञान के अभाव में भावना उपासना कही जाती है। किन्तु अहं ब्रह्मास्मि के ज्ञान के उपरान्त (श्रवण-मनन के उपरान्त) की भावना निदिध्यासन है। किसी चीज में तीव्र भावना उत्पन्न करके उसमें मन को स्थिर कर देना यह सामर्थ्य उपासना से प्राप्त होता है। उपासना में हम अपने से पृथक् परमात्मा को स्वीकार

करके उनके प्रति तीव भावना के प्रवाह को प्रवाहित करते हैं, ऐसी तीव्र भावना के कारण मन उनमें तल्लीन हो जाता है, और ध्याता, ध्येयाकार हो जाता है। लेकिन क्योंकि ध्याता के मूलरूप से बने रहने के कारण शीघ्र ही खण्ड़ उपस्थित हो जाता है।

जहां अपने बारे में श्रवण के द्वारा 'अहं ब्रह्मास्मि' का ज्ञान हुआ था, तथा मनन के द्वारा संशयों की समाप्ति की गई। इसके उपरान्त अपने बारे में इस ज्ञान के प्रति सदैव सजगता बनाए रखने के लिए हमारे संस्कार ही व्यवधान बनते हैं। हम अपने संस्कारों के वशीभूत होकर उसमें बह जाते हैं। यह संस्कार तीन प्रकार से होते है - १. तीव्र देहात्मबुद्धि २. किसी चीज को जानने का अभिप्राय ज्ञाता बनकर स्थित रहना है। ३. भोक्ता बनकर स्थित होना। देहात्मबुद्धि की निष्ठा को उससे विपरीत ब्रह्मात्मबुद्धि की तीव्र भावना के द्वारा बाधित की जाती है। ज्ञातापन का निषेध भी विचारपूर्वक अपने ज्ञातृत्व को एक परिवेश जानते हुए ज्ञातृत्व का निषेध करने से होता है। अर्थात् हमारा ज्ञातापन भी किसी ज्ञेय की अपेक्षा है, अर्थात् सापेक्ष है। तथा उसी प्रकार से भोक्तृत्वबुद्धि को भी भोक्तापन का परिवेश जानकर मिथ्यात्व का निश्चय करने से एवं अखण्डाकार वृत्ति

उत्पन्न करके उसमें स्थित रहने के द्वारा समाप्त किये जाते है। इसीके लिए निदिध्यासन होता है। ज्ञातृत्व आदि को मिथ्या जानकर उसका निषेध करते हुए अपनी ब्रह्मस्वरूपता की तीव्र भावना जगा कर उसमें स्थित रहने के द्वारा ही इन संस्कारों पर विजय प्राप्त होकर ब्रह्म में निष्ठा उत्पन्न होती है।

सूत्र : २२

।। अहरहः गर्वः परित्यज्यताम्।।

प्रतिदिन गर्व का त्याग करें।

पूर्व सूत्र में आचार्य ने ज्ञान में निष्ठा हेतु ज्ञान के साधनरूप निदिध्यासन का सूत्र दिया कि हम ब्रह्म है, इसकी तीव्र भावना से युक्त होना चाहिए। अब आचार्य उसी निदिध्यासन के सूत्र को आगे बढ़ाते हुए बता रहे हैं कि प्रतिदिन गर्व का परित्याग करना चाहिए।

गर्व अर्थात् अभिमान अर्थात् अपने आपको अच्छी तरह से नाप लेना। यहां दो सम्भावनाएं हो सकती है १. अपने बारे में ब्रह्मस्वरूपता के ज्ञान की वजह से अन्य से विशिष्ट होने का अभिमान। २. अपने ब्रह्मस्वरूपता के ज्ञातृत्व से युक्त होना। जिस समय एक साधक ने श्रुति, युक्ति आदि के माध्यम से यह निश्चय किया कि हम ही ब्रह्म हैं, तो सम्भावना यह हो सकती है कि अपने आपको अन्य व्यक्ति से विशिष्ट मान ले। यह सम्भावना तब ही होती है कि जब अपनी ब्रह्मस्वरूपता का बौद्धिक निश्चय मात्र ही हुआ है। ब्रह्म सर्वात्मा है,

अतः यदि हम ब्रह्म है यह निश्चय हुआ तो सब के प्रति यह ब्रह्मदृष्टि अर्थात् आत्मभाव से युक्त होना चाहिए। यह अपनी समस्त बौद्धिकादि विशिष्टता के अभिमान के त्याग से ही होता है। अन्य से विशिष्ट होने का अभिमान अपने ज्ञातृत्व के अभिमान के परिणामस्वरूप होता है। अतः दूसरी सम्भावना बताई कि अपनी ब्रह्मस्वरूपता के ज्ञातृत्व के अभिमान से युक्त होना।

अपने से पृथक् अनात्मा को अनात्मा की तरह से जाना कि यह सब अनात्मा है, हम उन सब के प्रकाशक, सब के सत्तास्फूर्ति प्रदाता है। यह जानने पर हम अनात्मा नहीं किन्तु उनके जानने वाले हैं। ब्रह्मस्वरूप तत्त्व की वजह से ही सब आत्मवान हो रहा है। इस दिशा में यात्रा सही है किन्तु अभी एक सोपान दूर है। वो यह है कि हम इन सबके प्रकाशक है तथा अपनी ब्रह्मस्वरूपता के ज्ञाता हैं। यहां सूक्ष्म विवेक की अपेक्षा है कि जिनके हम प्रकाशक व स्फूर्तिप्रदाता है, वह सब अनात्मा मिथ्या है। अर्थात् प्रकाश्य मिथ्या है। जब प्रकाश्य (प्रकाशित होने योग्य पदार्थ) मिथ्या है, तो हमारा प्रकाशक होना कैसे सत्य हो सकता है! प्रकाशक और प्रकाश्य यह दोनों ही एक ही नाटकमंच पर की दो अभिव्यक्तियां है। जितना प्रकाश्य सत्य है उतना ही

हमारा प्रकाशक होना सत्य है। अर्थात् प्रकाश्य की अपेक्षा ही हम प्रकाशक है। प्रकाशक होना हमारा सापेक्ष परिचय अथवा परिवेश मात्र है। जब प्रकाश्य ही बाधित हो गया तो हम प्रकाशक भी नहीं है, हम मात्र प्रकाशस्वरूप है, जो निरपेक्ष सत्तामात्र है। एवं इस ज्ञातृत्व और प्रकाशक के अभिमान का निषेध ही बाकी समस्त अभिमानों से अन्त में मुक्त करता है। इसे दृढ़ करने के लिए सतत प्रमादरहित अभ्यास करना चाहिए।

सूत्र : २३

।। देहेऽम्मति रुझ्यताम् ।।

देह में से अहंबुद्धि का त्याग करें।

आचार्य ज्ञान में निष्ठा के लिए ज्ञान के साधनरूप निदिध्यासन के सूत्र बता रहे हैं। अब यहां देहात्मबुद्धि के त्याग का उपदेश कर रहे हैं।

देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि ही उपाधि हैं। स्वरूप के अज्ञान की वजह से विपरीत ज्ञान है। अतः इन उपाधि के धर्मो का आत्मा पर अध्यारोप होने के कारण ही उसमें तादात्म्य होता है, और उसमें अहंबुद्धि का जन्म होता है। इसकी वजह से उसके धर्मों को अपने धर्म मान लिया जाता है। देह की सीमाएं हमारी सीमाएं हैं। अनात्मा में आत्मबुद्धि की हुई है। अतः विवेकपूर्वक अनात्मा से अहंबुद्धि को हटाना चाहिए। यह उपाधि जड़, आत्मा चेतन है, उपाधि परिवर्तनशील, आत्मा अपरिवर्तन-शील व अविकारी है। जिन-जिन स्तर पर परिवर्तन हो रहा है, उसके बारे में विवेक करके उसमें से अहंबुद्धि सर्वथा निषेध करना चाहिए।

देहादि उपाधि में से आत्मबुद्धि का निषेध करने का

अभिप्राय समझना चाहिए। हम देहादि उपाधि नहीं है, इस वाक्य को दोहराना मात्र नहीं है। जब 'हम देहादि उपाधि है' इसके अर्थ को, इसके प्रभाव को अच्छी तरह से समझा जाए, तब ही देहात्मबुद्धि के त्याग का अभिप्राय समझ में आता है। जिस समय हम अपने आपको देहादि उपाधि समझते हैं तब हमारे व्यवहार में भी यह बात प्रतिबिम्बित होती दिखाई देती है। जैसे हम देह हैं, वैसे ही हम अन्य को भी देह मात्र समझते हैं। इसके अलावा शारीरिक परिवर्तन हमारे मन को क्षुब्ध व हर्षित करने में सक्षम होते हैं। जिस समय अपने आपको मन समझ कर जीते हैं तो मन की विविध भावनाएं अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाती है। भावनाएं आहत होने पर शोकाकुल तथा भावनाओं की संतुष्टि हर्षित करती है। अन्य का मूल्यांकन भी भावना के आधार से किया करते हैं, जो रागादि का हेतु भी बनने लगता है। जिस समय अपने आपको बुद्धि समझ कर जीते हैं तो ज्ञान में वृद्धि अभिमान में वृद्धि का हेतु बनती है। किसी अन्य के ज्ञान से प्रभावित होकर ही उत्कृष्ट व निकृष्ट का निश्चय किया जाता है। बौद्धिक संतुष्टि ही जीवन में हर पल का प्रयोजन रहता है, एवं हम जिस धरातल पर स्थित होते हैं, उसी स्तर का जगत हमारे लिए महत्वपूर्ण हो जाता है। उस स्तर में परिवर्तन हर्ष-शोक,

प्रसन्नता-खिन्नता उत्पन्न करता है। हम उसी स्तर पर सतत कुछ न कुछ परिवर्तन की अपेक्षा करते हैं। इसके लिए कर्म की अनिवार्यता हो जाती है, एवं हम कर्ता-भोक्ता जीव के स्तर पर ही स्थित रहते हैं।

अतः अपने प्रत्येक व्यवहार, विचार को अच्छी तरह अवलोकन करें, और निश्चय करें कि हम किस स्तर पर स्थित है! जब इस बात को अच्छी तरह से समझते हैं, तब ही उसके निषेध का अर्थ समझ में आ सकता है। अन्यथा हम देहादि उपाधि नहीं है-इस वाक्य दोहराते हुए ध्यान के समय मात्र उससे कुछ क्षणों के लिए दृष्टि हट़ाते है, जो कि वास्तविक निषेध नहीं है। अतः देहात्मबुद्धि के त्याग के अन्तर्गत यह आपेक्षित है कि हम व्यवहार में भी इस बात के सजग रहते हुए अपने वर्तमान धरातल और स्थिति से अवगत होकर उसके निषेध का स्वरूप समझें। देहात्मबुद्धि का त्याग होने पर ही अपने स्वस्वरूप में स्थिति सम्भव हो सकती है।

सूत्र : २४

।। बुधजनैर्वादः परित्यज्यताम् ।।

विद्वानों के साथ वाद का परित्याग करें।

पिछले सूत्र में आचार्य ने ज्ञान में निष्ठा के लिए देहात्मबुद्धि के त्याग का उपदेश किया। अब जब तक ज्ञान में निष्ठा नहीं होती तब तक कुछ बातें ध्यान में रखने योग्य हैं, उसके प्रति सावधान करते हुए आगे बताते हैं कि ज्ञानवान के साथ वाद का परित्याग करें। वाद की सम्भावना अपने से कम जानने वाले के साथ नहीं होती है। क्योंकि वो जानता ही नहीं है, तो वाद कैसे कर सकता है! वाद में दोनों पक्ष की समानता होती है। जब विद्वानों के साथ वाद करने की मनोवृत्ति होती है, तो यह दिखाता है कि अपने अन्दर विद्वत्ता का अभिमान है। ज्ञान विद्वत्ता मात्र को नहीं कहते हैं। ज्ञान वह है जहां अपने ज्ञातापन का रहस्य जानकर उससे मुक्त हो जाते है। किन्तु इस अभिमान से युक्त होकर अपने इस ज्ञान का प्रदर्शन करने की मनोवृत्ति होती है, अथवा अन्य से अपने आपको श्रेष्ठ और अन्य को अपने से निम्न सिद्ध करने की मनोवृत्ति होती है। यदि श्रेष्ठ सिद्ध हुए तो सफलता का अभिमान तथा निम्न सिद्ध हुए तो हीनता और ज्ञानवान के प्रति

द्वेषभाव का जन्म होने की सम्भावना होती है। ये समस्त परिणाम जीवभाव में निष्ठा दृढ़ करने का, तथा उसके परिणामस्वरूप संसार की गर्त की ओर जाने का सूचक है।

किसी भी ज्ञानवान के पास जाने पर अपने ज्ञान के प्रदर्शन के बजाय विनम्रतापूर्वक कुछ सीखने की ही मनोवृत्ति होनी चाहिए। विनम्रता से समर्पण ही अभिमान का बाधक होता है। जब तक ज्ञान में निष्ठा न हो जाए तब तक अन्तर्मुख होकर ज्ञान के प्रति सजगता से जीवभाव के निषेध की दिशा में ही विचार होना चाहिए। अन्यथा फिर संसार का ही पथ पकड़ा जाएगा। साधक के लिए अपने जीवभाव को बाधित करते हुए अपनी ब्रह्मस्वरूपता में जगना ही एकमात्र लक्ष्य होना चाहिए। जो भी अपनी ब्रह्मस्वरूपता में जग गया उनमें कहीं पर भी वाद-विवाद की प्रेरणा ही समाप्त हो जाती है। क्योंकि वो सब को ब्रह्मस्वरूप ही देखता है। साधक के लिए अपने इस लक्ष्य के बारे में सतत जाग्रति रखना यह ही कर्तव्य है।

सूत्र : २५

।। क्षुध्-व्याधिश्च चिकित्स्यताम् प्रतिदिनं ।।

क्षुधा को रोगवत् जानते हुए चिकित्सा करें।

पिछले सूत्र में आचार्य ने ज्ञान की परिपक्वता के लिए व्यवहार में ध्यान रखने योग्य सूत्र प्रदान किएं। विद्वानों से वाद का परित्याग कर ज्ञान के प्रति सजगता हो। अब यहां व्यवहार मे कुछ आवश्यक बातें जिसे कर्तव्यता की तरह बताई जा रही हैं। उसमें एक है कि अपने देह के धर्म को ध्यान में रखते हुए उसका उपचार करें। जब तक शरीर के प्रारब्ध रहते हैं, तब तक शरीर बना रहता है, और जब तक शरीर का अस्तित्व है, तब तक वह भुख-प्यास आदि धर्म से वह युक्त रहेगा। क्षुधा शरीर के लिए एक व्याधि के समान है। इस व्याधि से बचने का कोई उपाय ही नहीं है। अतः इसके इन धर्मो को स्वीकार करके उसकी निवृत्ति का उपचार करना ही चाहिए। शरीर की स्वस्थता बनी रहे तो मन भी स्वस्थ रहता है। यदि मन अस्वस्थ हुआ तो आत्मचिन्तन में बाधा हो सकती है। उपनिषद् भी बताता है कि मन अन्न में से बना हुआ है। जिस अन्न को खाया जाता है, उसके स्थूलभाग का मल रूप से त्याग होता है,

उसके मध्यमभाग से मांस बनता है और सूक्ष्म भाग से मन का पोषण होता है। उसी तरह से जल के स्थूलभाग का मूत्ररूप से त्याग होता है, मध्यम भाग का रक्त बनता है तथा सूक्ष्मभाग से प्राण को पोषण मिलता है। घी-तेल आदि स्निग्ध पदार्थ जिसे तेज कहा जाता है, उसके स्थूलभाग में से हड्डी, मध्यमभाग से मज्जा तथा सूक्ष्म भाग से वाणी को पोषण मिलता है। इस तरह अन्न और जल से ही शरीर के समस्त अंगों को पोषण मिलता है। अतः उसे उचित मात्रा में लेना आवश्यक है।

क्षुधा को व्याधि समझने के पीछे आशय यह भी है कि उसके उपचार के लिए जो भी ग्रहण किया जाए उसके प्रति भोगबुद्धि न हो। जगत के प्रति भोगबुद्धि ही भोक्तृत्व की वृत्ति को जन्म देती है, उसके उपरान्त इसकी सीमारेखा का मूल्यांकन असम्भव होता है। इसलिए आवश्यक है कि क्षुधा को व्याधि रूप समझा जाए। आचार्य आगे उस व्याधि के लिए भिक्षा रूपा अन्न को औषधि बतलाते हैं।

सूत्र : २६

।। भिक्षौषधं भुज्यताम् ।।

भिक्षारूप औषधि ग्रहण करें।

पिछले सूत्र से आचार्य ने व्यवहार मे कुछ आवश्यक बातें जिसे कर्तव्यता की तरह बताना आरम्भ किया था। सर्व प्रथम बताया कि अपने देह के धर्म को ध्यान में रखते हुए उसका उपचार करें। उसमें सर्व प्रथम बताया कि प्राण का विशेष धर्म है कि जहां क्षुधा और प्यास व्याधि की तरह सताते है। आचार्य ने कहा कि जब तक शरीर के प्रारब्ध है, तब तक उसे व्याधि समझते हुए उसका उपचार अवश्य करना चाहिए।

आचार्य यहां बताते हैं कि इस क्षुधा नामक व्याधि की निवृत्ति के लिए भिक्षा रूप औषध का पान करें। एक साधक को ज्ञान में निष्ठा के लिए यह आवश्यक है कि अपने शरीर की स्वस्थता का भी ध्यान रखे। शरीर की अस्वस्थता के रहते हुए शरीर हमारा ध्यान अपनी और खिंचता है, ऐसे में देह के धर्म से उपर उठ़ने में प्रयास लगता है। पूर्व सूत्र में

आचार्य ने क्षुधा को भी एक व्याधि ही बताया था। उसकी निवृत्ति हेतु भोजनरूप औषधि की व्यवस्था आपेक्षित है। भिक्षा को औषधरूपा बताने का अभिप्राय इसमें किसी प्रकार की भोगवृत्ति का अभाव हो, तथा क्षुधारोग की निवृत्ति योग्य ही भोजन ग्रहण किया जाना चाहिए। जैसे भिक्षा रूप औषधि का प्रयोग क्षुधा रूप रोग की निवृत्ति मात्र करने हेतु ही होता है।

स्वयं भोजन के निर्माण की व्यवस्था बजाय समाज के प्रति आश्रित होना यह संन्यासी के कर्तव्य की तरह बताया जाता है। अन्यथा साधन सामग्री के उपार्जन के अलावा परिग्रह आदि करने के लिए मन उसके संकल्प से युक्त बना रहता है। संन्यासी के लिए भिक्षाटन वृत्ति बताई जाती है, जहां किसी गृहस्थ के घर से भिक्षा ली जाती है। भिक्षा का अन्न अत्यन्त पवित्र अन्न होता है, क्योंकि इसमें किसी प्रकार की भोगवृत्ति का अभाव होता है। तथा साधक के अन्दर किसी प्रकार के आलस्य व प्रमाद नहीं, किन्तु अध्यात्म के महान लक्ष्य की प्रेरणा विद्यमान होती है। भिक्षा में किसी विशेष प्रकार के भोजनादि का संकल्प नहीं होता है, अतः भगवदिच्छा से प्राप्त जो भी है, उसे ही ग्रहण किया जाता है। भोजन के समय भी इस लक्ष्य का स्मरण रहे

कि हमारा जीवन इन्द्रियभोग के लिए नहीं है, किन्तु महानलक्ष्य के लिए है। अतः आचार्य अन्नपूर्णा स्तोत्रम् के अन्त में मा पार्वती से प्रार्थना करते हैं कि 'ज्ञानवैराग्यसिद्ध्यर्थं भिक्षां देहि च पार्वति।'

भिक्षा के अन्न में एक और विशेषता है कि यह आवश्यक नहीं होता कि भिक्षा सदैव आदरपूर्वक ही प्राप्त हो। कईबार कुछ लोग इसके महत्व को नहीं जानने की वजह से अपमानित भी कर सकते है। ऐसे में मान-अपमान आदि में भी समत्व बनाए रखें। अध्यात्मलक्ष्य के लिए उपयोगी मूल्य भी विकसित होते है।

आज के अति व्यस्ततापूर्ण समाज में भिक्षावृत्ति का जीवन व्यावहारिक कई बार नहीं होता है। ऐसे समय भी भोजन को अपने संकल्प और रुचि के अनुरूप की प्रधानता न होते हुए उसे औषधि के रूप में ही स्वयं बनाकर ग्रहण किया जाना चाहिए। गृहस्थ के लिए भोजन के प्रति यज्ञदृष्टि, तथा अध्यात्मसाधक के लिए भिक्षावृत्ति बताई जाती है। दोनों में इसी दृष्टि के समावेश की प्रधानता है कि भोजनरूपी आवश्यक कार्य को भोगवृत्ति से नहीं किन्तु उसे धर्म व अध्यात्म लक्ष्य हेतु एक साधन के रूप में ही ग्रहण किया जाना चाहिए।

सूत्र : २७

।। स्वाद्वन्नं न तु याच्यताम् ।।

स्वादिष्ट भोजन की कामना न करें।

पिछले कुछ सूत्रों से आचार्य ने व्यवहार मे कुछ आवश्यक बातें कर्तव्यता की तरह बताना आरम्भ किया था। पिछले दो सूत्रों से जो प्राणधर्म क्षुधा व प्यास के विषय में ध्यान में रखने योग्य बाते बताई जा रही है, उसी सन्दर्भ में आगे बता रहे हैं।

ज्ञान का स्वरूप होता है कि जहां अपने आपको कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित ब्रह्मस्वरूप जानते हैं। स्वस्वरूप में निष्ठा उत्पन्न करना ही एक मात्र कर्तव्य है। इसी ज्ञान में निष्ठा हेतु आचार्य ने बताया कि इस क्षुधा को एक व्याधि के समान जानें। यह शरीर का स्वाभाविक धर्म है। इस व्याधि की निवृत्ति के लिए भिक्षा रूप औषध का पान करें। जिस समय भिक्षा ग्रहण की जाती है, तो सम्भावना है कि किसी स्थान पर रुचिकर व स्वादिष्ट भिक्षा भी प्राप्त हो। अतः उसे प्राप्त करने का संकल्प सम्भव हो सकता है। इस सम्भावना से सावधान करते हुए आचार्य बताते हैं कि जब जब स्वादिष्ट भोजन

की प्राप्ति की इच्छा हो तो उस वृत्ति को प्रोत्साहित नहीं किया जाना चाहिए। जहां एक और अपने कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित स्वरूप का निश्चय किया जाता है, वहीं दूसरी और ऐसी इच्छा हमारी भोक्तृत्व में निष्ठा उत्पन्न करने में निमित्त बन जाती है। भोक्तापन को किंचित् अवसर प्रदान करना भी अपने स्वरूप से चलित होकर जीवभाव को प्राप्त करना है। जब तक ज्ञान में निष्ठा नहीं हो जाती तब तक मन के अन्दर उठ़ते प्रत्येक संकल्प व वृत्ति के प्रति सजग रहना चाहिए। तथा उसकी गहराई में जाकर उसके पीछे की प्रेरणा को समझना चाहिए। यह वृत्ति मात्र अहं की संतुष्टि से प्रेरित है। यह निश्चय करते हुए उसके प्रति सजगता वरतनी चाहिए।

भिक्षान्न में स्वादिष्ट अन्न का संकल्प होने पर मन की वृत्ति बहिर्मुख होकर आत्मचिन्तन गौण होने लगता है। अतः भिक्षान्न में स्वाद का महत्व साधक के लिए नहीं होना चाहिए। बाहर के किसी भी विषय वा भोग का लेशमात्र भी महत्व राग-द्वेष तथा हर्ष-शोक को जगाने में निमित्त बन सकता है। जो कि संसार की दिशा में यात्रा कराता है। अदृढ़ं च हतं ज्ञानम् - ज्ञान में दृढ़ता का अभाव ही संसार में गिराने का हेतु है। अतः साधक ज्ञान में निष्ठा होने पर्यन्त सजग रहें।

सूत्र : २८

।। विधिवशात्प्राप्तेन सन्तुष्यताम् ।।

प्रारब्धवशात् प्राप्त में ही संतुष्ट होना जानें।

पिछले कुछ सूत्रों से आचार्य ने व्यवहार मे कुछ आवश्यक बातें जिसे कर्तव्यता की तरह बताना आरम्भ किया था। पिछले सूत्रोंसे जो प्राणधर्म क्षुधा व प्यास के विषय में कुछ ध्यान में रखने योग्य बातें बताई थी, उसके अन्तर्गत बताया कि स्वादिष्ट अन्न की अपेक्षा अपने अन्दर भोक्तृत्व में और भी निष्ठा को दृढ़ करता है। अतः स्वादिष्ट अन्न की याचना नहीं करते हुए अन्न को भिक्षा की तरह ग्रहण करें।

भोक्तृत्व, आत्म-ज्ञान के अभाव का सूचक है। अतः इसके बारे में ही यहां और भी ध्यान में रखने योग्य बिन्दु बता रहे हैं कि जो भी परिस्थिति प्राप्त होती है, उसे अपना प्रारब्ध समझकर उसीमें संतुष्ट रहना चाहिए। चाहे वह भिक्षा के सन्दर्भ में हो या फिर अन्य परिस्थिति के सन्दर्भ में। यह शरीर प्रारब्धवशात् हमें प्राप्त हुआ है, अतः जब तक शरीर के प्रारब्ध होंगे तब तक उसका अस्तित्व भी बना रहेगा तथा उसके

अनुरूप परिस्थिति भी प्राप्त होनी ही है। किसी भी परिस्थिति का अनुभवकर्ता जीव ही होता है। यदि अनुकुलता की प्राप्ति व प्रतिकुलता से निवृत्ति की दिशा में प्रयास होता है, तो वह जीव ही करता है, तथा जीव ही उसे भोगना चाहता है।

अतः इसमें परिवर्तन की अपेक्षा बाहर परिस्थिति के प्रति सत्यता की बुद्धि तथा जीव के सुख व संतुष्टि के लिए हुआ करती है। जब जब परिस्थिति में परिवर्तन की चाह होती है तो वह इस 'जीव' अर्थात् 'अहं' की संतुष्टि की अपेक्षा है, जो कि जीवभाव को दृढ़ तो करता ही है, साथ ही परिवर्तन के लिए संकल्पबद्धता कर्तापन की वृत्ति को भी जन्म देता है। इस तरह से कर्ता-भोक्ता जीव का अस्तित्व बनाएं रखकर उसकी अनुकुलता की प्राप्ति की दिशा में ही यात्रा अर्थात् संसार की दिशा में यात्रा का लक्षण है। आचार्य इसके लिए सावधान करते हुए बताते हैं कि जब परिस्थिति की स्वीकृति होती है कि यह परिस्थिति इस शरीर के प्रारब्ध की वजह से तथा उसके अनुरूप ही प्राप्त हो रही है, तो चेष्टा के संकल्प की समाप्ति हो जाती है तथा आत्मचिन्तन करते हुए उसमें रमते रहने के लिए सहायक होती है। अतः जब तक ज्ञान की दृढ़ता नहीं

होती है, तब तक अनुकुलता की प्राप्ति और प्रतिकुलता से निवृत्ति के संकल्प को समाप्त करना चाहिए। इस संकल्प की समाप्ति के लिए ही उसे प्रारब्ध की तरह स्वीकार करना आवश्यक है। कर्मफलदाता तो ईश्वर ही है। उनके द्वारा हमारे कर्म के अनुरूप फल प्रदान किया जा रहा है, अतः उसे प्रसादबुद्धि होने पर उसकी प्रसन्नतापूर्वक स्वीकृति हो जाती है।

सूत्र : २९

।। शीतोष्णादि विषह्यताम् ।।

शीत-उष्णादि द्वन्द्वों को सहन करें।

पूर्व सूत्र में आचार्य ने इन्द्रिय में भोक्तृत्व की प्रधानता से प्रेरित चेष्टा पर नियन्त्रण को महत्व प्रदान किया था। अब आचार्य जीवन में सहज रूप से प्राप्त परिस्थिति के विषय में महत्वपूर्ण दृष्टि प्रदान करते हुए बताते हैं कि शीत-उष्ण को सहन करें। शीत-उष्ण से अभिप्राय व्यक्तित्व के विभिन्न स्तरों पर प्राप्त हो रहे द्वन्द्व है। जैसे कि शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मान-अपमान अर्थात् विभिन्न स्तरों पर प्राप्त अति रूपा अनुकुलता व प्रतिकुलताएं। उसे बगैर प्रतीकार के स्वीकार करें किन्तु साथ ही मन की प्रसन्नता व विचारशीलता भी बनी रहनी चाहिए। यह सहनशीलता है, इसे ही तितिक्षा नामक सम्पत्ति भी कहा जाता है।

इन शीत-उष्णादि रूप अतियों में जो भी उचित व्यवस्था हो सकती है, उसकी मर्यादा में रहकर किन्तु मन में विक्षेपरहित होकर यथावश्यक प्रवृत्ति की जानी चाहिए। यदि उसमें कुछ विशेष परिवर्तन करना सम्भव नहीं हो पा रहा है, तो उसे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार

किया जाना चाहिए। संसारी व्यक्ति जो भी प्रतिकूलता की प्राप्ति होती है, उसे परिवर्तित करने की चेष्टा करता है। बाहर की परिस्थिति में प्रतिक्रिया करना, उससे मन को प्रभावित होने देना, उससे जीवन की सफलता असफलता देखना यह सब संसारी मनोवृत्ति का सूचक होती है। प्रतिकूल परिस्थिति के समय ही अपने निश्चयों की दृढ़ता तथा उनकी जड़ें कितनी गहरी है, यह पता लगता है। उन परिस्थितियों को प्राप्त करके, प्रतिक्रिया करके पलायन करते हैं तो हम बहुत बड़े लाभ से वंचित हो जाते है। वस्तुतः प्रतिकूल परिस्थिति किसी के द्वारा नहीं दी जाती किन्तु अज्ञान की वजह से अन्य के उपर आक्षेप होता है। यह केवल अपने जो भी निश्चय एवं पसंद आदि होते हैं, उससे निर्धारित होता है। यदि सुखादि कोई नहीं दे सकता तो अतियां भी कोई नहीं दे सकता। व्यक्तिगत पसंद के अनुरूप परिस्थिति प्राप्त होना ही अनुकूलता तथा तद्विपरीत प्रतिकूलता कहलाती है। यदि हम परिस्थिति की स्वीकृति कर पाएं तो कभी दुःख नहीं होता किन्तु अपनी पसंद-नापसंद के निश्चय कर लेने पर उससे अतियां निश्चित होती है। हमारे सामर्थ्य, भावना व निश्चय रूप द्वन्द्व को हम ही निर्माण करते हैं।

इन परिस्थितियों के प्रति सहनशीलता को विकसित

करना चाहिए। सहनशीलता का अभिप्राय अन्दर प्रतिक्रिया का अभाव तथा परिस्थिति की यथावत् स्वीकृति होनी चाहिए। सहनशीलता एक प्रकार की तपस्विता है। इससे प्रतिकूल परिस्थिति का सामना करने का सामर्थ्य जग जाता है। यदि कोई न कोई अतियों के बारे में व्यवस्था करते हैं तो उनमें ही लिप्त होते है। दुःख की अति के लिए तो हम व्यवस्था करते है किन्तु सुख की अति का स्वप्न देखते हैं। यह बहुत बड़ा मोह है। सहनशीलता का अभाव मन की उर्जा का क्षय करके बहिर्मुख बनाता है। जहां इन बाह्य दृश्य जगत का और महत्व हुआ तो अपने स्वस्वरूप में अवस्थिति के लिए, दृष्टा के तत्व के ज्ञान से च्युति होना स्वाभाविक है।

अतः इन विपरीत द्वन्द्वों की प्राप्ति होने पर समत्व रूप गुण को धारण करते हुए उसे प्रभु का प्रसाद समझ कर ग्रहण किया जाना चाहिए। यह दृष्टि सहनशीलता के गुण की वृद्धि करती है, अथवा समस्त परिस्थितियां आवागमन वाली अनित्य है, इस प्रकार उसके मिथ्यात्व का निश्चय करते हुए उसे सहन किया जाना चाहिए। सहनशीलता वा तितिक्षा में प्राप्त परिस्थिति की प्रसन्नतापूर्वक स्वीकृति होती है। ऐसे में प्रतिक्रियात्मक मन नहीं होते हुए विचारशीलता हो पाती है। अतः तितिक्षा रूपी गुण अत्यन्त आवश्यक है।

सूत्र : ३०

।। न तु वृथावाक्यं समुच्चार्यताम् ।।

वाणी का व्यर्थ प्रयोग न करें।

पूर्व सूत्र में आचार्य ने तितिक्षा रूपी मूल्य को बताया कि प्रत्येक शीतोष्णादि द्वन्द्व को प्रतिकार रहित सहन करना चाहिए। यह तितिक्षा तपस्या का ही एक अंग है। इसीके अन्तर्गत बहुत महत्वपूर्ण तपस्या बताते हैं जो कि वाणी के स्तर पर हैं। आचार्य वाणी के व्यर्थ प्रयोग को संयमित करने का उपदेश देते हैं।

वाणी का तपस् दो प्रकार से सम्भव होता है - १. वाणी का प्रयोग ही नहीं करते हुए पूर्ण मौन को धारण करना। तथा आवश्यकता अनुसार ही वाणी का सुन्दर एवं उचित प्रयोग करना। प्रथम प्रकार का तपस् शास्त्र व आचार्य की दृष्टि से कल्याणकारी नहीं है। क्योंकि इसमें वाणी का दमनमात्र है। दमन करने में तीव्र संकल्प व हठकारिता की आवश्यकता होती है। वहां बुद्धि में सजगता का महत्व नहीं होता है। दूसरे प्रकार का वाणी का प्रयोग ही शास्त्रविहित है। वाणी के स्तर के तपस् के विषय में भगवान ने गीता में बताया कि सत्यं, प्रियं,

हितं च मितं ब्रूयात्। वाणी का प्रयोग करने में सत्य की प्रधानता हो, किन्तु अन्य को पीड़ा पहुचाने वाला तथा अहित करने वाला न हो। साथ ही कम से कम शब्दों का अर्थात् आवश्यकतानुसार प्रयोग हो। इन चीजों का विवेक बनाए रखते हुए वाणी का प्रयोग करने में अत्यन्त जाग्रति तथा विचार की अपेक्षा होती है। वस्तुतः वाणी के माध्यम से व्यक्ति की मनोस्थिति ही प्रतिबिम्बित होती है। वाणी का व्यर्थ प्रयोग मन की विक्षिप्त स्थिति का सूचक है। जहां अपने विक्षिप्त मन का सामना नहीं कर पाते है तो अपने आपसे पलायन वाणी तथा अन्य इन्द्रियों की व्यर्थ चेष्टा के द्वारा होता है। जहां अनात्मा के प्रति महत्वबुद्धि तथा उसमें सुखित्व-दुःखित्व का आरोपण होता है, उसके प्रति अपेक्षा होती है, तब ही मन में विक्षेप होता है। जब यह संकल्प होता है कि वाणी का प्रयोग व्यर्थ न हो, तो वहां मन की स्थिति के प्रति सजगता आती है। मन ने कहां कहां शोभनत्व का अध्यास किया है, उसके प्रति जागृकता होने लगती है। मन में विद्यमान मूल्य व महत्व के प्रति सजगता होने लगती है। मन के मूल्य व महत्व के प्रति सजगता अन्तर्मुखता का लक्षण है। यह सजगता से ही सत्य और मिथ्या का विवेक हो पाता है। जैसे जैसे अन्तर्मुखता के साथ सजगता बढ़ती जाती है,

वैसे वैसे अपने बारे में की गई कल्पना और धारणा के विषय में विचार होने लगता है। कल्पना को कल्पना की तरह जान लेना ही कल्पना का निषेध है। जब कल्पना का निषेध होता है तब ही सत्य दिखता है। सत्यता के साक्षात्कार के साथ उसमें निष्ठा के लिए भी वाणी का तपस् आवश्यक है।

प्रारंभ में उसे तपस् की तरह स्वीकार किया जाना चाहिए। किन्तु जैसे जैसे वाणी से प्रयुक्त अन्य समस्त अनात्मा की असारता जान ली तो वाणी सहज रूप से उससे निवृत्त हो जाती है। अतः अन्तर्मुख होकर विचार करने हेतु आचार्य वाणी का मित प्रयोग करने का विधान करते हैं।

सूत्र : ३१

।। औदासीन्यमभीप्स्यताम् ।।

सब से असंग रहें।

पिछले सूत्र में आचार्य ने वाणी के स्तर की तपस्या का विधान किया था। अब यहां विचार व व्यवहार में कैसी दृष्टि होनी चाहिए - उसका विधान करते हुए सब से उदासीन होने का महत्व बता रहे हैं।

उदासीनता का अर्थ होता है उपरि आसीन होना अर्थात् प्रत्येक परिस्थिति में असंग व तटस्थ रहना। पूर्व में आचार्य ने सत्संग का विधान किया था तथा दुःसंग से विरत होने का विधान किया था। किसी भी एक पक्ष का आश्रय लेना उसके प्रति महत्वबुद्धि का सूचक है। इतना ही नहीं, किन्तु जगत दो खण्ड में विभाजित हो जाता है। महत्वबुद्धि की वजह से सुख की प्राप्ति व दुःख की निवृत्ति हेतु पराधीनता होने लगती है। यह दोनों ही विवेक के अभाव का सूचक होता है। स्वयं को क्षुद्र तथा असुरक्षित मान लेने के उपरान्त ही बाहरी विषयों पर आश्रित होकर संग किया जाता है। यह अविवेक है कि बाह्य वस्तु, व्यक्ति और

परिस्थिति को सत्य मानना तथा अपने आपको अपूर्ण मान लेना।

सर्व प्रथम जगत के प्रति मिथ्यात्व का निश्चय हो कि जो भी परिस्थिति है, वो कुछ क्षणों के लिए सुख वा दुःख प्रदान करती है, वो शाश्वत नहीं है। अतः उन पर आश्रित होकर जीना मोह का सूचक है। वह मनुष्य को सदैव बहिर्मुख बनाए रखता है, तथा समस्त उर्जा और समय का उसी में व्यय होता है। आत्मज्ञान तथा उसमें निष्ठा हेतु अन्तर्मख होकर स्व के उपर विचार किया जाना चाहिए। नित्यानित्य विवेक का आश्रय लेकर बहिर्मुखता समाप्त करके अन्तर्मुख होने के लिए सब से असंगता की अपेक्षा होती है। जैसे जैसे जगत के मिथ्यात्व का निश्चय होता जाता है, वैसे वैसे जगत के प्रति असंगता होती जाती है। जगत के मिथ्यात्वनिश्चय तथा अपने वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए, उसमें स्थित होने के लिए अपने बारे में विचार किया जाता है। अपने उपर जो भी अनात्मा के साथ तादात्म्य की वजह से धारणाएं उत्पन्न की हुई है, उन पर अच्छी तरह से विचार करके निवृत्त किया जाता है। जहां अध्यारोप को अध्यारोप की तरह से जाना तो उसका निषेध होने लगता है। आत्मा सब से असंग स्वप्रकाश स्वरूप ही शेष रहती है।

अतः सर्व प्रथम बाह्य जगत के बारे में मिथ्यात्व निश्चय करते हुए उससे असंगता हो। उसके उपरान्त अपनी असंग स्वरूपता को जानकर अपने उपर से उपाधियों का निषेध करके अपने सत्य में स्थित होना चाहिए। अतः आचार्य सब से उदासीन होने का विधान कर रहे है।

सूत्र : ३२

।। जनकृपा नैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम् ।।

लोगों की कृपा और निष्ठुरता का त्याग करें।

पिछले सूत्र में आचार्य ने सब से असंग व उदासीन रहने का विधान दिया। जैसे जैसे जगत के मिथ्यात्व का निश्चय होता जाता है, वैसे वैसे असंगता होती जाती है। असंगता की वजह से ही तटस्थतापूर्वक अपने स्वस्वरूप का चिन्तन सम्भव होता है। अतः इस असंगता में और भी दृढ़ता के लिए आचार्य सब के एहसान और निष्ठुरता का त्याग करने का विधान करते हैं। निष्ठुरता और कृपा - यह परस्पर विरोधी प्रतिक्रियाएं जगत के भिन्न भिन्न प्रकार के, परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले लोगों की अभिव्यक्तियां है।

साधारण मनुष्य के लिए त्याग अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है, अतः जब किसी अन्य को त्यागयुक्त देखता है, तो उनके मन में आदर की भावना जगती है। इतना ही नहीं, किन्तु सनातन धर्म की यह विशिष्टता है कि इन संस्कृति के पूर्वजो ने त्याग और संन्यास की ऐसी गरिमा स्थापित की है, जिसकी वजह से लोग स्वाभाविक

ही संन्यासी की सेवा के लिए प्रेरित होते हैं, उन्हें आदर प्रदान करते हैं तथा उनके प्रति स्नेह रखते हैं। इसकी वजह से कदम कदम पर लोगों का स्नेह प्राप्त होगा ही। लोगों के द्वारा प्रदत्त आदर को देखकर अपनी विशिष्टता न देखते हुए अपने पूर्वजों को ही श्रेय प्रदान किया जाना चाहिए। जिन्होंने ऐसी दिव्य परम्परा बनाकर त्याग का महत्व स्थापित किया है। किन्तु उससे यदि प्रभावित होकर भावना के वशीभूत हो गए तो लक्ष्य से भटक जाएंगे। इतना ही नहीं, किसी के द्वारा आदर प्राप्त होने पर अहं की संतुष्टि हो सकती है। जो आगे ज्ञान के द्वार को बन्द कर देती है। इस प्रकार किसी के एहसान और आदर को स्वीकार करने पर अहं की संतुष्टि के माध्यम से जीवभाव को ही दृढ़ किया जाता है तथा भावना के वशीभूत उसमें बन्धकर पुनः सम्बन्धों की कर्तव्यता से युक्त होने की सम्भावना रहती है। यह कर्तृत्व को दृढ़ करने का एक नया निमित्त बन जाता है। जब तक ज्ञान में पूर्ण निष्ठा न हो तब तक इन सब से दूर रहकर निराश्रित होकर अपने स्वस्वरूप में स्थिरता का अभ्यास ही कर्तव्य है। इससे भिन्न कोई भी चेष्टा बन्धनकारी व भटकाने वाली है। अतः साधक को चाहिए कि लोगों के एहसान और आदर को आवाहित न करते हुए उससे दूर ही रहें।

जहां समाज में कुछ लोग त्याग और संन्यास को आदर प्रदान करते है, तो उससे विपरीत कुछ अन्य लोग भी होते है, जो कि अनात्म विषय व भोग को अत्यधिक महत्व देते हैं। उसकी अधिकता से युक्त होकर गर्वान्वित होते हैं। वे लोग त्याग और ब्रह्मज्ञान रूप महान लक्ष्य को नहीं समझते हैं और न ही उसके प्रति श्रद्धा रखते हैं। अतः ऐसे लोगों के द्वारा निष्ठुरता, अनादर की भी सम्भावना होती है। जिसकी वजह से अपमान और निन्दा भी होती है। किसी के द्वारा की जाने वाली कृपा और निष्ठुरता उन व्यक्ति के मन में स्थापित मूल्यों का तथा महत्वबुद्धि का परिचायक है। जो व्यक्ति अपने उपर की जानेवाली कृपा को महत्व प्रदान करता है, मान की अपेक्षा से युक्त होता है, वो ही निन्दा में विक्षिप्त हो सकता है। यह दोनों ही औपाधिक विशिष्टता के लिए ही हुआ करते हैं। अपना वास्तविक स्वरूप वह है कि जिसे न निन्दा के शब्द, न स्तुति के शब्द स्पर्श करते हैं। अपना वास्तविक स्वरूप का निश्चय करते हुए स्वस्वरूप अनुसंधान ही साधक का कर्तव्य है। अन्य सब त्याज्य है। अतः अपनी असंग स्वरूपता में स्थित रहकर सतत आत्म-चिन्तन में अपने आपको समर्पित करें।

सूत्र : ३३

।। एकान्ते सुखमास्यताम् ।।

एकान्त में सुखपूर्वक बैठें।

पिछले सूत्रों में आचार्य ने सब से असंग और उदासीन रहकर लोगों के मध्य में विचरने का विधान किया था। आत्मज्ञान के लिए तीन प्रकार के साधन बताए जाते हैं। १. श्रवण २. मनन ३. निदिध्यासन। आत्मज्ञान के लिए गुरु के श्रीचरणों में बैठकर शास्त्रों का गुरु के श्रीमुख से श्रवण करके तात्पर्यनिश्चय करना चाहिए। उसके उपरान्त मन के विविध संशयों की निवृत्ति के लिए मनन किया जाना चाहिए। इसके लिए भी आचार्य ने श्रुति के अनुकुल चिन्तन करके कुस्तर्क से विरत होने का विधान दिया। मनन के द्वारा समस्त संशयों की समाप्ति के उपरान्त ज्ञान में निष्ठा के लिए निदिध्यासन किया जाना चाहिए। निदिध्यासन के अन्तर्गत श्रवण के द्वारा अपने बारे में किए गए 'अहं ब्रह्मास्मि' के निश्चय को दृढ़ करना चाहिए। उसके लिए व्यवहार में भोजन के प्रति क्या दृष्टि होनी चाहिए तथा असंगतापूर्वक लोगों के मध्य में कैसे विचरण करना चाहिए इनके विषय मे उचित दृष्टि प्रदान की। जिससे

कि सब से विरत होकर मन को समाहित करके अपने आपके साथ बैठ पाएं। अब यहां निदिध्यासन के लिए एकान्त में सुखपूर्वक बैठने का विधान कर रहे हैं।

सुखपूर्वक बैठने का अभिप्राय है कि ऐसे आसन में बैठना चाहिए कि जिससे शरीर तनावरहित महसूस करे। यदि देह में किसी प्रकार की अस्वस्थता व तनाव होता है तो उसका एहसास बना रहता है, जो कि ध्यान अपनी ओर खिंचता है। अतः ऐसे बैठना चाहिए जिससे कि देह को विस्मृत भी कर सके साथ ही तमोगुण न आते हुए सजगता बनी रहे। इसके लिए शान्त, पवित्र व एकान्त स्थान का चयन करना चाहिए।

ऐसा स्थान हो जो जनसम्पर्क और बाहरी विक्षेप से रहित हो। यदि ऐसा स्थान उपलब्ध न हो पाएं तो ऐसे समय का चयन करना चाहिए कि जब विक्षेप का अभाव हो। बाह्य एकान्त उपलब्ध होने पर भी जब तक मन विक्षेपरहित नहीं होता है, तो एकान्त नहीं कहा जा सकता है। अतः मन के अन्दर भी एकान्त का निर्माण होना आवश्यक है। कर्म और भोग विषयक संकल्प मन में अन्य के प्रवेश के लिए वातावरण निर्मित कर देते हैं, जो कि मन को पुनः बहिर्मुख करता है। अतः मन को

समस्त संकल्पों से रहित करना चाहिए। जगत के प्रति मिथ्यात्व निश्चय की दृढ़ता तथा जीव के कर्तृत्व-भोक्तृत्व को कल्पित देखने पर संकल्परहिता होती हैं। इस तरह बाह्य व आन्तर एकान्त सिद्ध होता है। ऐसे मन को विषयादि के संकल्प से रहित करके फिर ऐसे शान्त और प्रसन्न मन से अपनी ब्रह्मस्वरूपता का ध्यान किया जाना चाहिए।

सूत्र : ३४

।। परतरे चेतः समाधीयताम् ।।

परमात्मा में चित्त को समाहित करें।

पिछले सूत्र में आचार्य ने निदिध्यासन के लिए एकान्त स्थान का चयन करके वहां सुखपूर्वक बैठने का विधान किया। अब निदिध्यासन बताते हुए कहते है कि परमात्मा में अपने चित्त को समाहित करें।

जिन्होंने श्रवण के द्वारा अपनी ब्रह्मस्वरूपता का निश्चय किया है, तथा मनन के द्वारा उसके बारे में संशयों की निवृत्ति की है, वह ध्यान के लिए अपने मन को बाहर के विषयों से निवृत्त करके समाहित करें। जिस तथ्य को श्रवणकाल में देखा है, उसमें अपने चित्त को स्थिर करना है।

अहंवृत्ति से लेकर समस्त दृश्यजगत विषयक वृत्ति का आयाम ही चित्त है। इस चित्त में जो भी दृश्य विषयक वृत्ति है, उसकी वजह से हमने अपनी कुछ न कुछ अस्मिता निर्मित की है। जो ऐसी आश्रित अस्मिता है, वो उतनी ही क्षणिक है कि जितना क्षणिक उसका

आश्रय दृश्य है। अहंवृत्ति के अभाव में समस्त दृश्य-विषयक वृत्तियां ही शून्य हो जाती है। अतः किसी भी देश, काल और वस्तु विषयक वृत्ति हो अथवा उससे निर्मित हमारी अस्मिता हो, यह सब इस अहंवृत्ति पर ही आश्रित है। अतः अपनी इस अस्मिता पर विचार करें और जो भी सापेक्ष अस्मिता है, वो हमारा सत्य नहीं है, यह जानते हुए उसे बाधित करें। अपनी समस्त सापेक्ष अस्मिता का निषेध होने पर एक मात्र उन सब के आधारभूत एक अहंवृत्ति मात्र शेष बचती है।

चित्त की प्रथमवृत्ति अहंवृत्ति पर विचार करके देखें कि उसका आधार क्या है? क्योंकि ये वृत्ति अन्य वृत्तियों की अपेक्षा स्थायी है। किन्तु शाश्वत रूप से नहीं। अहंवृत्ति का अस्तित्व अन्तःकरण के जगने पर ही होता है। यह वृत्ति अत्यन्त जीवन्त प्रतीत होती है, किन्तु अन्तःकरण के अभाव में यह वृत्ति के रूप में नहीं होती है। 'हम है' यह एक वृत्ति मात्र है, इस वृत्ति का आधार वह 'मैं' तत्व है। जो वृत्ति रहे वा न रहे तब भी है।

जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब का अस्तित्व है, दर्पण के अभाव में उसका कोई अस्तित्व नहीं है तथा उसका

होना इस बिम्ब पर ही आश्रित है। किन्तु प्रतिबिम्ब के अभाव में बिम्ब का अभाव नहीं होता। मानों कि प्रतिबिम्ब बिम्ब में ही समाहित हो गया है। उसी प्रकार समस्त वृत्तियों का आधार अहंवृत्ति हम जो एक चेतन सत्ता मात्र है - के उपर आश्रित है। इस प्रकार इस अहंवृत्ति के बारे में गहराईपूर्वक विचार करके अपनी वो अस्मिता जो चित्त की वृत्तियों या चित्त पर आश्रित नहीं है, उसका विवेक करके अपनी इन समस्त से परे की अस्मिता का निश्चय करके उसमें स्थित हो जाएं।

अपनी इस चेतन स्वरूपता का निश्चय जो श्रवणकाल में किया था, उसी अपने सत्य में दृढ़तापूर्वक स्थित रहें। एकबार अपनी शुद्ध, निरुपाधिक चेतनस्वरूपता में स्थित होने के उपरान्त अन्य किसी प्रकार के विचार आदि का विक्षेप न आने दें। 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्'।।

सूत्र : ३५

।। पूर्णात्मा सुसमीक्ष्यताम् ।।

आत्मा पूर्ण हैं, इस सत्य का दर्शन करें।

पिछले सूत्र में आचार्य ने परमात्मा में अपने चित्त को समाहित करने का विधान दिया था। अब जिन परमात्मा में चित्त को समाहित किया जाना है उसे पूर्णस्वरूप, अपनी आत्मा की तरह जानकर उसमें स्थित होना है।

अपने चित्त को परं में समाहित करना अर्थात् अपनी पूर्णस्वरूपता में स्थित होना। हम ही पूर्णस्वरूप परमात्मा हैं, इस तथ्य को देखना है। अपनी पूर्णस्वरूपता किसी विषय की तरह से अपने से पृथक् नहीं देखी जाती है, किन्तु यह एक अवस्था का सूचक है, जो ज्ञान से प्राप्त प्रबुद्धता है। जीव बने रहते हुए कभी भी हम पूर्णस्वरूप नहीं हो सकते। अपनी परिच्छिन्नता के अभाव को देखा तो यह ही हमारी ब्रह्मस्वरूपता है। ऐसे लक्ष्य की प्राप्ति है, जहां आगे न कोई भेद, खण्ड या सीमा है। उसमें हम स्वयं ही जग गए, जिसके बारे में व्यक्तित्व की सीमाओं और विकारों से युक्त बने

रहकर कल्पना नहीं की जा सकती। यह अवस्था कोई काल या लोक विशेष में जाने से सम्बद्ध नहीं है। यह हमारी ही परिपूर्ण स्वरूपता की सूचक है।

अपनी पूर्णस्वरूपता को देखने के लिए खण्ड़ का ही निषेध होना आपेक्षित है। हम से पृथक किसी का अस्तित्व नहीं, क्योकि हम ही सत् स्वरूप हैं। किसी अन्य का अस्त्तित्व उसे महत्व देने के उपरांत ही होता है। उसके प्रति महत्व के अभाव का प्रमाण उसके प्रति प्रतिक्रिया का अभाव होता है। वास्तविक खण्ड प्रतीति पर आश्रित न होकर हमारी ज्ञप्ति पर आश्रित होता है। अतः खण्ड़ की प्रतीति के बावजूद अखण्ड़ का निश्चय होता है। सब में अपनापन देखना ज्ञान का नहीं मात्र श्रद्धा का सूचक है। जीव का होना ही अपूर्णता और खण्ड़ का सूचक है। जीव का स्वतंत्र एवं पृथक अस्तित्व होता है, ऐसा महत्व ही दोषवान है। इसे सत्य मानने पर ही मोह और संसार अध्याय चालू होता है। इस व्यक्ति को महत्व देना ही द्वैत है। इसके उपरांत खोज रूप संसार का दुष्चक्र प्रारम्भ हो जाता है। निदिध्यासन के क्षणों में यह विवेक करना है कि इस संसार के कारण और उसके आधाररूप जीव को मिथ्या जानकर उसके अधिष्ठानभूत तत्व को ही मैं की तरह जानना है।

इसके लिए इस व्यक्तिरूप जीवभाव पर गहन पुनरालोकन सदैव करते रहे। उसका परीक्षण करते हुए यह अन्तर्विवेक प्राप्त करते है कि मूलरूप से जीव स्वप्रकाश सच्चिदानंद सत्ता ही है। इसके अलावा जो भी दिखे वह अध्यारोप मात्र है। इस जीवभाव तथा उससे निर्मित व्यक्तित्व की अस्मिता को झूठा जानकर उसका त्याग करना है। जहां इस प्रकार से विचार करते है तो विचारक भी गिर जाता है। तब जो शेष रहता है वह अद्वयस्वरूप तत्त्व मात्र है जो कि अद्वय होने की वजह से परिपूर्ण है। अपनी इस जीवभाव रूप सापेक्ष अस्मिता के मिथ्यात्व को निश्चय करके निरपेक्ष सत्य में जगना और उसमें स्थित हो जाना ही पूर्णात्मा की समीक्षा करना है।

सूत्र : ३६

।। जगदिदं तद्बाधितं दृश्यताम् ।।

उस दृष्टि के आश्रय से समस्त जगत को बाधित करें।

आचार्य ने पिछले सूत्र में बताया कि हम पूर्णस्वरूप है, इस सत्य का दर्शन करें। गुरुमुख से वेदान्त का श्रवण करके अपनी पूर्णस्वरूपता का निश्चय किया जाता है। आत्म-अनात्म विवेक का आश्रय लेते हुए समस्त उपाधियों से तथा उनकी सीमाओं से रहित अपनी पूर्णस्वरूपता को जाना जाता है। किन्तु यहां पर पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि अपने से पृथक अभी दृश्य जगत का अस्तित्व है, जो कि हमें बाधित करने में समर्थ दिखाई देता है। जिससे अपनी पूर्णस्वरूपता में निष्ठा नहीं हो पाती है।

ब्रह्मस्वरूपता में स्थिति के लिए दृष्टा व दृश्य दोनों पर विचार किया जाता है। दृश्य की उपेक्षा करके दृष्टा की पूर्णस्वरूपता में स्थिति नहीं हो सकती है। अतः आचार्य यहां इस दृश्य जगत के बारे में विचार करके उसे 'बाधित' करने का विधान कर रहे हैं। दृश्य जगत को बाधित करने का अर्थ है-उसके मिथ्यात्व का

निश्चय। यह सम्पूर्ण जगत मिथ्या है, इस तथ्य को अच्छी प्रकार से विचारपूर्वक जानना चाहिए। उसके लिए सर्वप्रथम जगत के प्रति महत्वबुद्धि की समाप्ति होनी चाहिए। उसके प्रति राग-द्वेष का शिथिलीकरण हो उसके उपरान्त ही विचार सम्भव हो पाता है। जगत के बारे में तटस्थतापूर्वक विचार करके उसके दृश्यत्व, विकारित्व और जड़त्व को अच्छी तरह से देखें। जैसे जैसे उसके विकारित्व अच्छी तरह से जानते हैं, तो उसके प्रति महत्वबुद्धि समाप्त होती जाता है। क्योंकि विकारी होने की वजह से वो हमें सुखी-दुःखी करने में समर्थ नहीं है। उसका जड़त्व और दृश्यत्व ही दिखाता है कि उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। वो किसी अन्य पर अपने अस्तित्व के लिए आश्रित है। मिथ्यात्व का यह सब से बड़ा प्रमाण है कि उसका अस्तित्व किसी अन्य पर आश्रित है। उसे मिथ्या जानकर मन को उससे मुक्त कर लिया जाता है। दृश्य का मिथ्यात्व जानने पर जो हमने अपने आपको समस्त दृश्य के साक्षी/दृष्टा की तरह जाना था, उन साक्षित्व की सत्ता भी सापेक्ष अर्थात् दृश्य की वजह से है, यह तथ्य दिखाई पडता है। साक्षित्व को सापेक्ष जानकर अपने साक्षीपने को मिथ्या जानता है, तो जो साक्षी का अधिष्ठान सत्यस्वरूप तत्व है, उसका मैं की तरह से भान होता है। जहां

जगत के मिथ्यात्व के निश्चय के साथ दृष्टा के वास्तविक अर्थात् निरपेक्ष स्वरूप को जाना तब ही पूर्णस्वरूपता में स्थिति सम्भव हो सकती है।

यह समस्त जगत हमारे उपर उसी प्रकार कल्पित है, जैसे रस्सी में सांप। सांप की रस्सी से पृथक सत्ता नहीं है, किन्तु सांप को रस्सी ही पूर्णतया व्याप्त करती है। उसी प्रकार जगत को हम अधिष्ठानस्वरूप ब्रह्म पूर्णरूप से व्याप्त करते हैं कि जैसे असंख्य लहरों तथा सम्पूर्ण समुद्र को जल तत्व। जल ही समुद्र तथा असंख्य लहरों की आत्मा है। उसी प्रकार हम ही सम्पूर्ण दृश्यजगत की आत्मा है। जब जगत के नामरूप के मिथ्यात्व निश्चय के साथ अपने सत्य को जानते हैं तब ही यह तथ्य का भी साक्षात्कार होता है कि यह सम्पूर्ण जगत की आत्मा हम ही है। इन मंत्रों का अर्थ भी तब ही दिखाई पडता है कि सर्वं खलु इदं ब्रह्म, ईशावास्यमिदं सर्वम्, तथा सियाराममय सब जग जानी। यह ही वास्तविक मुक्ति है, कि जगत के होते हुए भी हम अपनी पूर्ण-ब्रह्मस्वरूपता में स्थित है। वास्तविक मुक्ति का प्रसाद तब ही प्राप्त होता है। अतः आचार्य यहां पर बताते हैं कि अपनी अखण्ड सत्ता के साक्षात्कार के लिए जगत के मिथ्यात्व का निश्चय करें।

सूत्र : ३७

।। प्राक्कर्म प्रविलाप्यताम् ।।

ज्ञान के बल से संचित कर्म नष्ट करें।

आचार्य ने पिछले सूत्रों में अपनी ब्रह्मस्वरूपता को जानकर उसमें स्थित होने का विधान किया। इस ज्ञान में निष्ठा के लिए जगत के बारे में और गहराई से विचार करके उसके मिथ्यात्व निश्चय को दृढ़ करें तथा समस्त दृश्य और उससे सम्बद्ध अस्मिता को बाधित कर अपनी अखण्डस्वरूपता में निष्ठा जगाएं। स्वयं को ब्रह्मस्वरूप जानते हुए अपनी पूर्णता में स्थित हो जाना ही मुक्ति है। पूर्णस्वरूपता अर्थात् जहां कर्ता-कर्म आदि कोई भेद ही नहीं है। कर्तृत्व-भोक्तृत्व अज्ञानवशात् ही अपने उपर आरोपित था। ऐसे ज्ञानवान के कर्म का क्या होता है, इस विषय में जिज्ञासा हो सकती है।

इस सृष्टि की असंख्य योनियों में से एक मात्र मनुष्य के पास ही यह सामर्थ्य है कि वो अपने बारे में सचेत है। अतः अपनी अपूर्णता का भी उसे ही भान होता है। इस अपूर्णता को दूर करने के लिए कर्म की स्वतंत्रता भी मनुष्य के पास ही है, तथा उनमें कर्तृत्व का

अभिमान भी तीव्र होता है। अतः इस कर्तापन से युक्त होकर वो इस जगत में विविध कर्म करता है, तथा उन-उन कर्मों का फल भोगता है। इस प्रकार मनुष्य को अपने कर्तृत्व और भोक्तृत्व का बहुत स्पष्टता से भान होता है। जो कर्ता होता है, वो ही भोक्ता होता है।

इस कर्तृत्व के कारण हम विविध कर्म करते हैं, जिनके दो प्रकार के फल होते हैं १. दृष्टफल जो कि हम तुरन्त ही भोगते हैं। जैसे पानी पिया और उसके फलस्वरूप प्यास की निवृत्ति। किन्तु प्रत्येक कर्म का एक अदृष्ट फल होता है जो कि तुरन्त नहीं मिलता है, किन्तु कालान्तर में मिलता है। ऐसे जमा हुए कर्म के अदृष्ट को ही संचित कर्म के नाम से जाना जाता है। जो कि जन्म-जन्मान्तरों में किये हुए कर्म का संचय है। यह कालान्तर में फल देते हैं।

यहां आचार्य ने उसे ही प्राक्कर्म बताया है। प्राक्कर्म जब तक बने रहते हैं तब तक वे फल देने के लिए कभी न कभी पक्व हो सकते हैं, तो उसका नाश कैसे हो सकता है? यहां आचार्य उन कर्म के नाश का तरीका बताते हैं। अपनी ब्रह्मस्वरूपता का ज्ञान जहां अपने उपर से कर्ता-भोक्ता रूप जीवत्व को मिथ्या जानकर

बाधित कर दिया गया है, तथा कर्ता-भोक्ता जीव का, (कर्मक्षेत्र रूप यह जगत को भी मिथ्या जानते हुए) जगत का और कर्मफलदाता ईश्वर के अधिष्ठान रूप ब्रह्मस्वरूप तत्व जान लिया है - जो कि एक अखण्ड सत्ता मात्र है, और यह त्रिपुटी भी समाप्त हो गई है तथा अपने उपर से कर्तापन भी बाधित हो गया। जब हम कर्ता ही नहीं है, तो हम भोक्ता भी कैसे हो सकते है? जैसे स्वप्न में से जगने पर स्वप्न में किए गए कर्म के हम कर्ता नहीं है, इस ज्ञान की वजह से उन-उन कर्म के फल के भोक्ता भी नहीं होते हैं। उसी प्रकार अपने अकर्ता होने के ज्ञान से ही संचित कर्म नष्ट होते हैं। इस ज्ञान के बल से संचित कर्म भुने हुए बीज की तरह निष्प्राण हो जाते हैं, जो कभी भी फलित वा अंकुरित नहीं होते हैं।

अतः इस ज्ञान को सतत दृढ़ करते हुए अपनी ब्रह्मस्वरूपता में स्थित रहें।

सूत्र : ३८

।। चितिबलान्नाप्युत्तरैः श्लिष्यताम् ।।

आगामी कर्मों से लिप्त न हो।

अध्यात्मयात्रा के महान लक्ष्य की सिद्धि हेतु आचार्य ने विविध सोपान बताए। अन्ततः पूर्णस्वरूपता में स्थिति होना ही इस यात्रा का लक्ष्य है। इस लक्ष्य रूप अन्तिम सोपान को भी सूत्ररूप से आचार्य ने बता दिया, तथा उसमें निष्ठाप्राप्ति के लिए भी सूत्र प्रदान किये। जो अपनी इस पूर्णस्वरूपता में स्थित हो गया है, उनके बारे में आचार्य ने पूर्व सूत्र से कर्मविषयक जिज्ञासा का समाधान करते हुए संचित कर्म की चर्चा करी।

अब इस सूत्र में आगामी कर्म के विषय में बताते हैं कि ज्ञान के बल से आगामी कर्म से लिप्त न हों। आगामी वा क्रियमाण कर्म वह होते है कि जो कर्म ज्ञान होने के पश्चात् होते है।

जो कर्म करने वाला है, उसे ही कर्ता कहा जाता है, तथा उसका फल भोगने वाला भोक्ता है। आत्मा न कर्म की कर्ता होती है, और न ही भोक्ता, उपाधि स्वयं

प्रकृति के द्वारा निर्मित जड़ होने की वजह से वह भी स्वयं कर्म नहीं कर सकती है। कर्तृत्व न आत्मा में होता है, न ही उपाधि में। किन्तु जड़ उपाधि और चेतनसत्ता के संयोग से ही कर्ता-भोक्ता जीव अस्तित्व में आता है। जिसकी वजह से उपाधि में चेतनता का संचार होता है और कर्म सम्पन्न होता है। इस प्रकार जीव की वजह से ही कर्म सम्पन्न हो रहे है। यह जीव की अपनी स्वतंत्र कोई सत्ता नहीं है। किन्तु दर्पण और बिम्ब के संयोग से जैसे प्रतिबिम्ब की प्रतीति होती है, उसी प्रकार जीव की एक काल्पनिक सत्ता है। अज्ञानवशात् हम अपने आपको जीव मानकर अपने उपर ही कर्तृत्व-भोक्तृत्व का आरोपण कर देते है।

अपनी ब्रह्मस्वरूपता के ज्ञान की वजह से इस तथ्य को देख लिया कि हम कर्ता-भोक्ता जीव नहीं है, यह केवल हमारी प्रतीति मात्र है। जब तक उपाधि बनी रहेगी, तब तक इस जीव की भी प्रतीति होनी ही है। जिस प्रकार दर्पण जब तक है, तब तक प्रतिबिम्ब तो दृश्य होगा ही। किन्तु प्रतिबिम्ब के दिखने या न दिखने के प्रति कोई आग्रह नहीं है। उसके मिथ्यात्व के निश्चय की वजह से प्रतिबिम्ब के दोष और धर्म अपने उपर आरोपित नहीं किये जाते है। उसका प्रयोग भी करते है

किन्तु उससे असंग रहते है। उसी प्रकार जीव की प्रतीति भले ही होती रहे, किन्तु जीवत्व हमारा सत्य नहीं है। जीव हमारी सन्निधि मात्र से आत्मवान होते हुए कर्म कर रहा है। हम उनसे असंग है। हम न ही कर्म के कर्ता है, अतः उसके भोक्ता भी नहीं है। इस समझ की वजह से ही आगामी कर्म से अलिप्त रहा जाता है। ऐसे ज्ञान की वजह से उस उपाधि के द्वारा अनेकों महान से महान कार्य भी सम्पन्न होते हैं, किन्तु इस ज्ञान के बल से ही उससे अंसग बने रहते हैं।

सूत्र : ३९

।। प्रारब्धं त्विह भुज्यताम् ।।

प्रारब्ध कर्म का यहीं पर भोग करें।

आचार्य इस उपदेश के समापन में महत्वपूर्ण बिन्दु बताते हैं कि प्रारब्धकर्म का यहीं पर भोग करें।

जीव के तीन प्रकार के कर्म होते हैं - संचित, आगामी एवं प्रारब्ध। आगामी और संचित के विषय में आचार्य ने बता दिया कि अपने आपको कर्ता-भोक्ता जीव नहीं मानते हुए अपनी ब्रह्मस्वरूपता के ज्ञान से ही इन कर्मों से मुक्त हुआ जाता है। अब यहां प्रारब्ध कर्म के विषय में मार्गदर्शन करते हैं। प्रारब्ध कर्म वो है जो इस शरीर की प्राप्ति में निमित्त बनता है। जैसे कमान से तीर छूट चुका हो, उसके उपरान्त उसे वापिस नहीं किया जा सकता है, वो अपने निशाने पर जाकर ही समाप्त होगा। उसी प्रकार जो कर्म फल देने के लिए प्रवृत्त हो चुके हैं, वे प्रारब्धकर्म अपना फल देकर ही समाप्त होगें। प्रारब्धवशात् यह शरीर की प्राप्ति हुई है, अतः जब तक प्रारब्धकर्म को भोग नहीं लेते है, तब तक शरीर बना रहता है, तथा कर्म के अनुरूप

परिस्थितियां प्राप्त होती रहती है। यह परिस्थिति कभी अनुकूल हो सकती है तो कभी प्रतिकूल। किन्तु इन समस्त परिस्थितियों में अपनी ब्रह्मस्वरूपता के ज्ञान तथा अपने कर्तृत्व-भोक्तृत्व रूपा जीवभाव को बाधित करने के द्वारा प्रारब्ध को सहजरूप से भोगना ही एक मात्र उपाय है।

वस्तुतः ज्ञानवान की दृष्टि से कोई प्रारब्ध भी नहीं है। ज्ञान होने के पश्चात् भी जबतक शरीरका प्रारब्ध है, तब तक उसका अस्तित्व बना रहता है। एक अज्ञानी की दृष्टि से देखें तो वह स्वयं को भी कर्ता-भोक्ता जीव समझ रहा है, अतः उनकी दृष्टि का आश्रय लेकर कहा जाता है कि प्रारब्ध का भोग करने पर ही प्रारब्ध समाप्त होते हैं। ज्ञानवान् की दृष्टि में जगत मिथ्या है, प्रारब्धवशात् जिस देह की प्राप्ति हुई है, वह देह भी जगत का ही अंश है। ज्ञानी की दृष्टि में यह शरीर एक चोले की तरह है, जिसे धारण करके विविध भूमिका निभा रहे हैं। इन सब के मध्य में अपनी ब्रह्मस्वरूपता की अस्मिता अप्रभावित रहती है। एक साधक को चाहिए कि जब तक अपनी ब्रह्मस्वरूपता में निष्ठा नहीं हो जाती तब तक ब्रह्मस्वरूपता का सतत अनुसंधान बनाए रखते हुए निःसंकल्प होकर प्रारब्ध भोगता रहे।

कई स्थान पर यह मान्यता प्रचलित है कि ज्ञान हो जाने पर ज्ञानी के शरीर का भी अंत हो जाता है। यदि इस निराधार बात को स्वीकार किया जाए तो ज्ञान की परम्परा का निर्वाह ही कैसे सम्भव हो सकता है? क्योंकि जो भी शास्त्र और तत्त्व का ज्ञान प्रदान करने वाले हैं, उसे अज्ञानी मानना पडेगा। ऐसे में ज्ञान की प्रामाणिकता कैसे हो सकेगी? इस मान्यता का भी यहां खण्ड़न हो रहा है कि जब तक प्रारब्ध शेष है, तब तक शरीर बना रहता है।

सूत्र : ४०

।। अथ परब्रह्मात्मना स्थीयताम् ।।

उसके उपरान्त परब्रह्मस्वरूपता में स्थित रहें।

आचार्य ने चालीस सूत्रों को पांच श्लोक में ग्रथित करते हुए साधना के समस्त सोपान प्रतिपादन किए। इन पांच श्लोक रूपी ग्रंथ को 'सोपान पंचकम्' नाम से भी जाना जाता है। प्रथम सोपान के रूप मे वेदों का नित्य अध्ययन करना बताया। वेद के द्वारा प्रदत्त धर्म-अधर्म वा विधि-निषेध परक ज्ञान से आरम्भ शिक्षा जिसका अन्नतः पर्यवसान धर्म-अधर्म से परे वेदान्त प्रतिपाद्य अपनी ब्रह्मस्वरूपता में अवस्थिति है। प्रत्येक सूत्र आगे की साधना हेतु सोपान है। अब यहां अन्तिम सोपान बताते हुए कहा कि अपनी परब्रह्मस्वरूपता में स्थित हो अर्थात् सभी सोपान का पर्यवसान स्वस्वरूप में स्थित होना मात्र था। यह सोपान नहीं किन्तु परं लक्ष्यस्वरूप है, इसके आगे कोई अन्य प्रयोजन वा लक्ष्य शेष नहीं रहता है।

जिसने वेदों के अध्ययन से आरम्भ करते हुए प्रत्येक साधना के सोपान को पार किया है, तथा इसके माध्यम से अपने अन्तःकरण को निर्मल बनाया है। वह सात्विक

अन्त:करण वाला व्यक्ति बन्धन और मोक्ष के स्वरूप को समझ कर मुक्ति की इच्छा से युक्त होता है, तब किसी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ गुरु के प्रति श्रद्धा व भक्ति से समर्पित होकर गुरु के श्रीमुख से वेदान्त का श्रवण करके उसके अर्थ का तात्पर्य निश्चय करता है। श्रवण के माध्यम से अपने स्वरूप का अज्ञान नष्ट होकर अपनी ब्रह्मस्वरूपता का ज्ञान होता है। मनन और निदिध्यासन करते हुए संशय की समाप्ति कर, अपनी ब्रह्मस्वरूपता के ज्ञान को आत्मसात करता है। अपनी ब्रह्मस्वरूपता के ज्ञान में निष्ठा के लिए आचार्य ने यहां साधन रूप से विधान दिएं।

अपनी ब्रह्मस्वरूपता इतनी सहज हो जाए कि जितनी सहजता एक संसारी व्यक्ति की अपने जीवभाव में होती है। समस्त विचार, कर्म व चेष्टा के पीछे अपनी अपूर्णता का निश्चय परिचालित होता है। उतना सहज अपनी ब्रह्मस्वरूपता का निश्चय होना चाहिए। उसे ही ज्ञान में निष्ठा कहते है। प्रत्येक विचार और चेष्टा अपनी पूर्णस्वरूपता की सुगन्ध से युक्त होती है। समस्त भेद से रहित सब के प्रति आत्मभाव से युक्त सहज रूप से स्थित है। अत: व्यवहार में सहज ही प्रेम व आत्मीयता की अभिव्यक्ति होती है। ब्रह्म की अवस्था धर्म-अधर्म

से परे कर्तृत्व-भोक्तृत्व से परे की अवस्था है। उनके द्वारा किये जा रहे कर्म में अपने विषय में कर्तृत्व व परिस्थिति को भोगने में भोक्तृत्व का अभाव है। बाहरी अनुकुलता व प्रतिकुलता से अपनी पूर्णता से च्युति नहीं होती है। गीता में भगवान ऐसे ब्रह्मनिष्ठ की मन:स्थिति को अथाह जल से परिपूर्ण समुद्र के समान बताते हैं। जैसे समुद्र में न कभी बाढ़ आती है और न ही सूखता है, वैसे ही ज्ञानवान की पूर्णस्वरूपता बाहरी किसी वस्तु, व्यक्ति व परिस्थिति से अप्रभावित रहती है। जब तक अपनी ब्रह्मस्वरूपता में ऐसी निष्ठा न हो जाए तब तक आचार्य द्वारा बताए गए उक्त साधनों का आश्रय लिया जाना चाहिए। उसके उपरान्त कोई कर्तव्यता शेष नहीं रहती। क्योंकि ब्रह्म कर्ता-कर्म, धर्माधर्म, भोक्ता-भोज्य आदि समस्त खण्ड से परे अखण्डता की अवस्था है।

यह इस साधनापंचकम् ग्रंथ का अन्तिम सूत्र है। ऐसा सारगर्भित, दिव्य संदेश भगवान आदि शंकराचार्यजी के जीवन का अपने शिष्यों के प्रति सब से अन्तिम संदेश है, ऐसा माना जाता है। इसके साथ ही इस ग्रंथ की समाप्ति होती है।

ओम् तत्सत्।।